

## Chapter ग्यारह

### बद्ध तथा मुक्त जीवों के लक्षण

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण उद्धव को बद्ध तथा मुक्त जीवों का अन्तर, साधु-पुरुष के लक्षण तथा भक्ति सम्पादन के विविध पक्ष बतलाते हैं।

पिछले अध्याय में उद्धव ने बद्ध तथा मुक्त आत्माओं के विषय में प्रश्न किये थे। भगवान् श्रीकृष्ण इन प्रश्नों के उत्तर में बतलाते हैं कि यद्यपि आत्मा भगवान् का भिन्नांश है, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण वह भौतिक शक्ति के सम्पर्क में आ जाता है, जिसके कारण उसे सतो, रजो तथा तमोगुणों की आच्छादक उपाधियों को स्वीकार करना पड़ता है। इस तरह आत्मा अनन्तकाल से बद्ध रहा है। किन्तु जब उसे शुद्ध भक्ति का आश्रय मिल जाता है, तो वह नित्य मुक्त कहलाने लगता है। इसलिए दिव्य ज्ञान जीव की मुक्ति का कारण है और अज्ञान उसके बन्धन का। ज्ञान तथा अज्ञान दोनों ही भगवान् श्रीकृष्ण की माया-शक्ति से उत्पन्न होते हैं और ये उनकी नित्य शक्तियाँ हैं। जो जीव प्रकृति के गुणों के प्रति आकृष्ट होते हैं, वे मिथ्या अहंकार से मोहित हो जाते हैं, जिससे वे अपने आपको दुख, संभ्रान्ति, सुख, कष्ट, भय इत्यादि के भोक्ता के रूप में देखते हैं। इस तरह वे इनके बारे में चिन्तन करते हैं, यद्यपि ये वस्तुएँ वास्तविक या आध्यात्मिक संसार में होती ही नहीं। आत्मा तथा परमात्मा एक ही शरीर के भीतर निवास करते हैं। अन्तर इतना ही रहता है कि भिन्न होने के कारण परमात्मा कर्म के

फल भोगने में लिप्त नहीं होते प्रत्युत साक्षी मात्र बने रहते हैं जबकि लघु बद्धजीव अज्ञानी होने के कारण अपने कर्म के फल भुगतता है। मुक्त जीव अपने पूर्वकर्मों के बचे हुए फलों के कारण भौतिक शरीर के भीतर रहकर भी शरीर के सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता। वह ऐसे शारीरिक अनुभवों को उसी तरह देखता है, जिस तरह स्वप्न से जगा हुआ व्यक्ति अपने स्वप्न के अनुभवों को देखता है। दूसरी ओर यद्यपि बद्धजीव स्वभावतः शरीर के सुख-दुख का भोक्ता नहीं है, किन्तु वह अपने को शारीरिक अनुभवों का वैसा ही भोक्ता मानता है, जिस तरह स्वप्न में मनुष्य अपने स्वप्न-अनुभवों को यथार्थ मानता है। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित होने वाला सूर्य जल से बद्ध नहीं होता और जिस तरह वायु आकाश के किसी एक खण्ड तक ही सीमित नहीं रहता, उसी तरह विरक्त मनुष्य अपने विस्तृत सांसारिक अनुभव का लाभ उठाकर अपने सारे संशयों को युक्त वैराग्य की तलवार से छिन्न कर देता है। चूँकि उसकी जीवन-शक्ति, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि की प्रवृत्ति इन्द्रिय-विषयों पर टिकने की नहीं होती, इसलिए भौतिक शरीर के भीतर स्थित होकर भी वह मुक्त रहता जाता है। चाहे वह सताया जाय या पूजा जाय इसकी परवाह न करके वह समभाव रहता जाता है। इसलिए वह इसी जीवन में मुक्त माना जाता है। मुक्त पुरुष को इस संसार के पाप-पुण्य से किसी तरह का लेना-देना नहीं रहता। वह हर वस्तु को समभाव से देखता है। आत्माराम साधु न तो किसी की प्रशंसा करता है, न निन्दा। वह किसी से व्यर्थ नहीं बोलता और अपने मन को भौतिक वस्तुओं पर नहीं टिकाता। प्रत्युत वह भगवान् के ध्यान में सदैव मग्न रहता है, जिससे मूर्खों की दृष्टि में वह मौन पागल व्यक्ति लगता है।

कोई कितना ही वैदिक वाङ्मय पढ़ ले या उनका उपदेश दे किन्तु यदि उसने भगवान् की सेवा के प्रति शुद्ध आकर्षण उत्पन्न नहीं किया, तो समझो कि उसने अपने श्रम से आगे कुछ भी प्राप्त नहीं किया। मनुष्य को केवल वे ही शास्त्र पढ़ने चाहिए, जिनमें भगवान् के स्वभाव, उनकी मोहक लीलाओं तथा उनके विविध अवतारों की अमृतमय कथाएँ वैज्ञानिक ढंग से विवेचित हों। इस प्रकार से उसे परम सौभाग्य प्राप्त होता है। किन्तु इन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्यो का अध्ययन करने से दुर्भाग्य ही हाथ लगता है।

मनुष्य को दृढ़ संकल्प के साथ आत्मा की ठीक ठीक पहचान करनी चाहिए और इस भौतिक शरीर की मिथ्या पहचान का परित्याग कर देना चाहिए। उसके बाद ही वह प्रेम के आगार भगवान्

श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर अपने हृदय को न्यौछावर करे और असली शान्ति प्राप्त करे। जब मन तीन गुणों के वश में हो जाता है, तो वह परब्रह्म का ध्यान अच्छी तरह नहीं कर सकता। जो श्रद्धालु लोग धर्म, अर्थ तथा काम प्राप्त करने के लिए वैदिक यज्ञ सम्पन्न कर चुके होते हैं, वे अनेक जन्मों के बाद जगत को शुद्ध करने वाली भगवान् की मंगलकारी लीलाओं के श्रवण, कीर्तन तथा नित्य चिन्तन में अपने को लगाते हैं। तब ऐसे मनुष्यों को प्रामाणिक गुरु तथा सन्त-भक्तों की संगति प्राप्त होती है। इसके बाद गुरु-कृपा से वे महाजनों द्वारा नियत आदर्श अधिकारियों का अनुगमन करने लगते हैं और वे अपनी सही पहचान करने में सफल होते हैं।

इन उपदेशों को भगवान् कृष्ण से सुन लेने पर उद्धव ने वास्तविक सन्त-पुरुष के लक्षणों तथा भक्ति के विभिन्न पक्षों को जानने की इच्छा व्यक्त की। भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया कि असली साधु या वैष्णव निम्नांकित गुणों के होने पर योग्य बनता है। वह दयालु, ईर्ष्यारहित, सदा सत्यवादी, संयमी, दोषरहित, विशाल-हृदय, भद्र, स्वच्छ, अपरिग्रही, सबों का सहायक, शान्त, एकमात्र कृष्ण पर आश्रित, काम-रहित, भौतिक प्रयास से रहित, स्थिर, मन के छह शत्रुओं को वश में करने वाला, अधिक भोजन न करने वाला, कभी मोहग्रस्त न होने वाला, अन्यो का आदर करने वाला, कभी अपना सम्मान न चाहने वाला, गम्भीर, कृपालु, मित्रवत् कवित्वमय, पटु तथा चुप रहने वाला होता है। साधु का प्रमुख गुण यह है कि वह एकमात्र कृष्ण की शरण लेता है। जो एकमात्र कृष्ण की सेवा में लगा रहता है और उन्हें असीम, अन्तर्यामी सच्चिदानन्द भगवान् मानता है, वह सर्वोच्च भक्त है। भक्तियोग में ६४ प्रकार के कर्म रहते हैं। ये हैं (१-६) दर्शन, स्पर्श, पूजन, सेवा, महिमा-गान तथा भगवान् के अर्चाविग्रह एवं उनके भक्तों को नमस्कार करना, (७) भगवान् के गुणों, लीलाओं आदि के कीर्तन को सुनने की ओर अनुरक्ति उत्पन्न करना (८) सदैव भगवान् के ध्यान में रहना (९) प्राप्त होने वाली हर वस्तु को भगवान् को अर्पित करना (१०) अपने को भगवान् का दास समझना (११) भगवान् को अपना हृदय तथा आत्मा भेंट करना (१२) भगवान् के जन्म तथा कार्यकलापों के महिमा-गायन में अपने को लगाना (१३) भगवान् से सम्बन्धित छुट्टियों को मनाना (१४) अन्य भक्तों के साथ संगीत, गायन तथा नर्तन द्वारा भगवान् के मन्दिर में उत्सव करना (१५) सभी प्रकार के वार्षिक उत्सव मनाना (१६) भगवान् को खाद्य वस्तुएँ अर्पित करना (१७) वेदों तथा तंत्रों के अनुसार दीक्षा ग्रहण करना (१८) भगवान् से

सम्बन्धित व्रत लेना (१९) भगवान् के अर्चाविग्रह स्थापित करने के लिए उत्सुक रहना (२०) अकेले या अन्यो के साथ मिलकर भगवान् की सेवा के लिए बाग, मन्दिर, शहर इत्यादि का निर्माण करना (२१) भगवान् के मन्दिर की नम्रतापूर्वक सफाई करना (२२) भगवान् की सेवा हेतु भगवान् के आवास को रँगना, जल से धोना तथा शुभ बेलबूटों से सजाना ।

इसके बाद भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा-विधि का संक्षिप्त विवरण दिया गया है ।

श्रीभगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।

गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; बद्धः—बन्धन में; मुक्तः—मुक्त हुआ; इति—इस प्रकार; व्याख्या—जीव की विवेचना; गुणतः—प्रकृति के गुणों के अनुसार; मे—जो मेरी शक्ति है; न—नहीं; वस्तुतः—वास्तव में; गुणस्य—प्रकृति के गुणों का; माया—मेरी मोहक शक्ति; मूलत्वात्—कारण होने से; न—नहीं; मे—मेरा; मोक्षः—मुक्ति; न—न तो; बन्धनम्—बन्धन ।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, मेरे अधीन प्रकृति के गुणों के प्रभाव से जीव कभी बद्ध कहा जाता है, तो कभी मुक्त। किन्तु वस्तुतः आत्मा न तो कभी बद्ध होता है, न मुक्त और चूँकि मैं प्रकृति के गुणों की कारणस्वरूप माया का परम स्वामी हूँ, इसलिए मुझे भी मुक्त या बद्ध नहीं माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् कृष्ण बद्ध तथा मुक्त जीवन के विभिन्न गुणों की व्याख्या करते हैं। ये ऐसे लक्षण हैं, जिनसे मनुष्य सन्त-पुरुषों को एवं भगवान् की भक्ति की विविध विधियों को पहचान सकता है। पिछले अध्याय में उद्धव ने भगवान् से पूछा था कि बद्ध तथा मुक्त जीवन कैसे सम्भव हैं? अब भगवान् उत्तर देते हैं कि उद्धव का प्रश्न सतही है, क्योंकि शुद्ध आत्मा भगवान् की भौतिक शक्ति में कभी नहीं फँसता। जीव प्रकृति के तीन गुणों से मिथ्या सम्बन्ध की कल्पना करता है और भौतिक शरीर को आत्मा मान लेता है। इसलिए आत्मा अपनी ही कल्पना के परिणामों को भुगतता है, जिस तरह मनुष्य स्वप्न के भ्रामक कार्यों से कष्ट पाता है। इससे यह नहीं सूचित होता कि भौतिक जगत उस रूप में भ्रामक (मायायुक्त) है, जिससे कि अस्तित्व रहित जान पड़े। भौतिक जगत निश्चित रूप से सत्य है, क्योंकि यह भगवान् की शक्ति है और जीव भी ईश्वर की पराशक्ति होने से सत्य है। किन्तु जीव का यह स्वप्न कि वह भौतिक जगत का भिन्नांश है ऐसा मोह (भ्रम) है, जो उसे विरोधी

अवस्था में खींच ले जाता है, जिसे भौतिक बद्ध जीवन कहते हैं। जीव वास्तव में कभी भी बद्ध नहीं है, क्योंकि वह भौतिक जगत से झूठे सम्बन्ध की कल्पना करता है।

चूँकि जीव तथा पदार्थ में अन्ततः कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं होता, अतएव वास्तविक मुक्ति नहीं होती। जीव भगवान् की अपरा शक्ति से नित्य परे होने के कारण नित्य मुक्त है। भगवान् कृष्ण यह उद्घाटित करते हैं कि एक विचार से जीव यथार्थ में बद्ध है ही नहीं, अतएव वह मुक्त नहीं किया जा सकता। किन्तु दूसरे विचार से बन्धन तथा मोक्ष जैसे शब्दों को भगवान् की तटस्था शक्ति रूप व्यष्टि आत्मा की विशेष अवस्था को दर्शाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि व्यष्टि आत्मा कभी भी पदार्थ से बद्ध नहीं रहता, किन्तु उसे मिथ्या पहचान के कारण प्रकृति द्वारा दिये गये फल भोगने होते हैं। इस तरह बद्ध शब्द का प्रयोग भगवान् की अपरा शक्ति के भीतर जीव के अनुभव को सूचित करने के लिए किया जाता है। चूँकि बद्ध शब्द मिथ्या अवस्था को बताता है, इसलिए ऐसी मिथ्या स्थिति से स्वतंत्र होने को मोक्ष कहा जा सकता है। इसलिए बद्ध तथा मोक्ष शब्द स्वीकार्य होते हैं, यदि वे मोह द्वारा उत्पन्न क्षणिक स्थिति के द्योतक हों और जीव के परम स्वभाव के द्योतक न हों। इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं *गुणस्य मायामूलत्वान् न मे मोक्षो न बन्धनम्—बन्धन तथा मोक्ष* शब्दों को कभी भी भगवान् पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे परम सत्य हैं और हर एक के परम नियन्ता हैं। भगवान् कृष्ण शाश्वत रूप से परम दिव्य सत्ता हैं, जिन्हें मोह द्वारा कभी भी बाँधा नहीं जा सकता। यह तो भगवान् की मोहिनी शक्ति का कर्तव्य है कि वह भगवान् कृष्ण की पृथक् आनन्दमय स्थिति का झूठा बोध कराकर जीवों को अज्ञान की ओर आकृष्ट करे। भगवान् से पृथक् अस्तित्व की मोहमयी धारणा माया या भौतिक मोह कहलाता है। चूँकि कृष्ण माया के परम नियन्ता हैं, इसलिए भगवान् पर माया का किसी तरह से किसी प्रकार का प्रभाव पड़ने की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए *बन्धन* शब्द को सच्चिदानन्द रूप भगवान् पर लागू नहीं किया जा सकता। बन्धन से स्वतंत्र होने का सूचक शब्द *मोक्ष* ईश्वर के प्रसंग में समान रूप से अप्रासंगिक है।

इस श्लोक की टीका श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस प्रकार की है। भगवान् महान् आध्यात्मिक शक्तियों से युक्त हैं। किन्तु संसारी मनोरथ के कारण बद्धजीव सोचता है कि परम सत्य उन विविध आध्यात्मिक शक्तियों से रहित हैं, जिससे वे आनन्दमय जीवन बिता सकें। यद्यपि जीव भगवान्

की आध्यात्मिक शक्ति है, किन्तु सम्प्रति वह अपरा मायाशक्ति के पद पर स्थित है और कल्पना करने से वह बद्ध जीवन में बँध जाता है। मोक्ष का अर्थ है कि जीव अपने को भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति में स्थानान्तरित कर दे। यह आध्यात्मिक शक्ति तीन कोटियों में विभाजित की जा सकती है—*ह्लादिनी, सन्धिनी* तथा *संवित्*। चूँकि भगवान् शुद्ध आनन्द तथा ज्ञान से युक्त हैं, अतएव वे कभी भी बद्ध या मुक्त नहीं होते। किन्तु भगवान् की भौतिक शक्ति में फँसने के कारण जीव कभी बद्ध होता है, तो कभी मुक्त।

प्रकृति के तीन गुणों की आदि निरपेक्ष अवस्था माया कहलाती है। जब तीनों गुण परस्पर क्रिया करते हैं, तो इनमें से कोई एक गुण शक्तिशाली बन जाता है और अन्य दो गुणों को तब तक दबाता रहता है, जब तक कोई अन्य गुण प्रधान नहीं हो जाता। इस तरह इन तीनों को उनकी अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति के द्वारा पहचाना जा सकता है। यद्यपि तीन प्रकार की भौतिक शक्तियाँ भगवान् से विस्तार पाती हैं, किन्तु भगवान् अपने साकार रूप में तीनों आध्यात्मिक शक्तियों—सत, चित तथा आनन्द—के असली धाम होते हैं। यदि कोई व्यक्ति माया का साम्राज्य कहलाने वाले भौतिक आकाश में बद्ध जीवन के पाश से मुक्त होना चाहता है, तो उसे आध्यात्मिक आकाश तक जाना होगा, जहाँ सारे जीव आनन्द से परिपूरित रहते हैं, नित्य आध्यात्मिक शरीरों वाले होते हैं और भगवान् की प्रेमाभक्ति में संलग्न रहते हैं। भगवान् की प्रेमाभक्ति में अपने नित्य आध्यात्मिक स्वरूप को विकसित करके मनुष्य बद्ध जीवन तथा निर्विशेष मुक्ति के द्वैत को लॉघ जाता है और भगवान् की आध्यात्मिक शक्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। उस समय भौतिक जगत से झूठी पहचान की कोई सम्भावना नहीं रहती।

जीव अपने को नित्य आत्मा समझ करके यह जान सकता है कि वह सत्य रूप से पदार्थ से कभी सम्बद्ध नहीं रहा है, क्योंकि वह भगवान् की पराशक्ति का अंश है। इस तरह आध्यात्मिक आकाश की सत्यता की परिधि में बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही अर्थहीन हैं। जीव तो भगवान् की तटस्था शक्ति है। उसे भगवान् की शुद्ध भक्ति में संलग्न होने के लिए स्वेच्छा का प्रयोग करना चाहिए। अपने नित्य आध्यात्मिक शरीर को पुनरुज्जीवित करके मनुष्य यह समझ सकेगा कि वह भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति का लघुकण मात्र है। दूसरे शब्दों में जीव सच्चिदानन्द का लघुकण है और इस तरह पूर्ण कृष्णभावनामृत में प्रकृति के तीन गुणों के मोह द्वारा हँके जाने की सम्भावना नहीं रहती। निष्कर्षतः

यह कहा जा सकता है कि व्यष्टि जीव कभी भी पदार्थ से बँधा नहीं होता, इसलिए मुक्त नहीं होता, यद्यपि उसकी मोहमयी स्थिति को वास्तव में बद्ध तथा मुक्त कहा जा सकता है। दूसरी ओर, भगवान् शाश्वत रूप से अपनी आध्यात्मिक शक्तियों में स्थित होते हैं और कभी भी बद्ध नहीं कहे जा सकते। अतएव ऐसी अस्तित्वरहित दशा से ईश्वर द्वारा अपने को मुक्त बनाने का कोई अर्थ नहीं निकलता।

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया ।

स्वप्नो यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

शोक—शोक; मोहौ—तथा मोह; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; देह-आपत्तिः—भौतिक शरीर धारण करना; च—भी; मायया—माया के प्रभाव से; स्वप्नः—स्वप्न; यथा—जिस तरह; आत्मनः—बुद्धि के; ख्यातिः—मात्र एक विचार; संसृतिः—संसार; न—नहीं है; तु—निस्सन्देह; वास्तवी—असली, सत्य।

जिस तरह स्वप्न मनुष्य की बुद्धि की सृष्टि है किन्तु वास्तविक नहीं होता, उसी तरह भौतिक शोक, मोह, सुख, दुख तथा माया के वशीभूत होकर भौतिक शरीर ग्रहण करना—ये सभी मेरी मोहिनी शक्ति ( माया ) की सृष्टियाँ हैं। दूसरे शब्दों में, भौतिक जगत में कोई असलियत नहीं है।

तात्पर्य : देह-आपत्तिः शब्द सूचित करता है कि जीव अपनी झूठी पहचान बाह्य भौतिक शरीर से करता है और इस तरह एक शरीर से दूसरे में जाता रहता है। आपत्ति शब्द महान् कष्ट या दुर्भाग्य को भी बतलाने वाला है। मोहवश ऐसी झूठी पहचान के कारण जीव यहाँ पर वर्णित कष्टप्रद लक्षणों का अनुभव करता है। माया का अर्थ है यह मिथ्या धारणा कि कोई भी वस्तु भगवान् कृष्ण के बिना या भगवान् के आनन्द के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए विद्यमान रहती है। यद्यपि बद्धजीव मिथ्या इन्द्रियतृप्ति भोगने का प्रयास करते हैं, किन्तु परिणाम सदैव पीड़ादायक ही होता है और ऐसे पीड़ाप्रद अनुभव बद्धजीवों को भगवान् के पास वापस जाने के लिए मोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, भौतिक सृष्टि का चरम उद्देश्य जीव को भगवद्भक्ति तक वापस लाना है। इसलिए भौतिक जगत के कष्टों को भी भगवान् की कृपा ही समझना चाहिए। बद्धजीव भौतिक वस्तुओं को अपने भोग की वस्तुएँ मानकर उनकी क्षति पर अत्यधिक शोक करता है। इस श्लोक में उस स्वप्न का उदाहरण दिया गया है, जिसमें भौतिक बुद्धि अनेक मोहक वस्तुओं को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार हमारी दूषित भौतिक चेतना भौतिक इन्द्रियतृप्ति की झूठी भावना उत्पन्न कर देती है। किन्तु यह मृगमरीचिका कृष्णभावनामृत से विहीन होने के कारण सत्य नहीं होती। दूषित भौतिक चेतना के वशीभूत होने से जीव को असंख्य कष्ट सहने पड़ते हैं।

इसका एकमात्र हल यही है कि प्रत्येक वस्तु के भीतर कृष्ण का और कृष्ण के भीतर हर वस्तु का दर्शन किया जाय। इस तरह वह समझ सकेगा कि भगवान् कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के परम भोक्ता तथा स्वामी हैं और समस्त जीवों के शुभचिन्तक मित्र हैं।

भौतिक मोह में मनुष्य को न तो अपने नित्य आध्यात्मिक शरीर की समझ रहती है, न परम सत्य का ज्ञान रहता है। इसलिए यह संसार अपने अत्यन्त पवित्र रूप में भी सदैव मूर्खता है। हमें स्वप्न के उदाहरण से यह नहीं मान बैठना चाहिए कि भौतिक जगत का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। भौतिक प्रकृति भगवान् की बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है, जिस तरह आध्यात्मिक आकाश (वैकुण्ठ) भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है। यद्यपि भौतिक वस्तुएँ रूपान्तरित होती रहती हैं, जिसके कारण उनका स्थायी अस्तित्व नहीं होता, किन्तु भौतिक शक्ति वास्तविक होती है, क्योंकि यह परम सत्य भगवान् कृष्ण से उत्पन्न होती है। शरीर को झूठे ही वास्तविक आत्मा और भौतिक जगत को अपने भोग की वस्तु मान बैठने के कारण ही ऐसा है। ये तो हमारे मनोरथ हैं। मनुष्य को चाहिए कि समस्त भौतिक उपाधियों से मुक्त होकर सर्वव्यापी सत्य भगवान् कृष्ण के प्रति सजग हो ले।

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्भव शरीरिणाम् ।  
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

विद्या—ज्ञान; अविद्ये—तथा अज्ञान; मम—मेरा; तनू—प्रकट शक्तियाँ; विद्ध्युद्भव—जानो; उद्भव—हे उद्भव; शरीरिणाम्—  
देहधारी जीवों का; मोक्ष—मोक्ष; बन्ध—बन्धन; करी—उत्पन्न करने वाला; आद्ये—आदि, नित्य; मायया—शक्ति द्वारा; मे—  
मेरा; विनिर्मिते—उत्पन्न किया गया।

हे उद्भव, ज्ञान ( विद्या ) तथा अज्ञान ( अविद्या ) दोनों ही माया की उपज होने के कारण मेरी शक्ति के विस्तार हैं। ये दोनों अनादि हैं और देहधारी जीवों को शाश्वत मोक्ष तथा बन्धन प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : विद्या के प्रसार से बद्धजीव माया के बन्धन से छूटता है। इसी तरह अविद्या के विस्तार से बद्धजीव मोह तथा बन्धन में फँसता जाता है। विद्या तथा अविद्या दोनों ही भगवान् की प्रबल शक्ति से उत्पन्न हैं। जब जीव अपने को सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक शरीरों का स्वामी मानने लगता है, तो वह मोह से बँध जाता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार जीव को जीवमाया और पदार्थ को गुणमाया की उपाधि दी जा सकती है। जीव अपनी जीवमाया को सांसारिक गुणात्मक शक्ति अर्थात् गुणमाया की



मुट्टी में रख देता है और झूठे ही स्वप्न देखता है कि वह भौतिक जगत का अंशरूप है। ऐसा कृत्रिम मेल मोह या अज्ञान कहलाता है। जब भगवान् की समस्त शक्तियों को सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है, तो जीव भौतिक बन्धन से छूट जाता है और वैकुण्ठ में अपने आनन्दमय नित्य धाम को लौट जाता है।

भगवान् अपनी शक्तियों से भिन्न नहीं हैं, किन्तु परम नियन्ता के रूप में वे सदैव उनसे ऊपर रहते हैं। केवल यह बतलाने के लिए कि भगवान् सदैव भौतिक कल्मष से रहित हैं, उन्हें मुक्त कहा जा सकता है, किन्तु यह बतलाने के लिए हरगिज नहीं कि संसार के वास्तविक बन्धन से वे मुक्त हैं। श्रील मध्वाचार्य के अनुसार विद्या भगवान् की अन्तरंगा शक्ति लक्ष्मी देवी की सूचक है और अविद्या भगवान् की बहिरंगा शक्ति दुर्गा की। किन्तु जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने *श्रीमद्भागवत* की टीका (१.३.३४) में बतलाया है, भगवान् अपनी शक्तियों को इच्छानुसार रूपान्तरित कर सकते हैं, “चूँकि भगवान् परब्रह्म हैं, अतएव उनके सारे रूप, नाम, लीलाएँ, लक्षण, संगी तथा शक्तियाँ उनसे अभिन्न हैं। उनकी दिव्य शक्ति उनकी सर्वशक्तिमत्ता के अनुसार कार्य करती है। वही शक्ति अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों के रूप में कार्य करती है और भगवान् अपनी सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा उपर्युक्त शक्तियों में से किसी के माध्यम से कोई भी कार्य कर सकते हैं। वे अपनी इच्छा से बहिरंगा शक्ति को अन्तरंगा शक्ति में रूपान्तरित कर सकते हैं।”

इस सम्बन्ध में श्रील श्रीधर स्वामी लिखते हैं कि भगवान् ने इस अध्याय के पहले श्लोक में बतलाया है कि जीव वास्तव में कभी भी बन्धन में नहीं रहता, अतएव वह कभी भी मुक्त नहीं होता। अतः बन्धन तथा मोक्ष शब्दों का प्रयोग यह स्मरण रखते हुए किया जा सकता है कि जीव भगवान् का दिव्य अंश है। यही नहीं, *मायया मे विनिर्मिते* शब्दों से ऐसा अर्थ भी नहीं निकाला जाना चाहिए कि बन्धन तथा मोक्ष भगवान् की शक्ति से उत्पन्न होने के कारण क्षणिक अवस्थाएँ हैं। इसीलिए *आद्ये* शब्द का प्रयोग इस श्लोक में हुआ है। विद्या तथा अविद्या नामक भगवान् की शक्तियों को माया की सृष्टियाँ कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् की शक्तियों का कार्य करती हैं। विद्या-शक्ति जीवों को भगवान् की लीलाओं में लगाती है, जबकि अविद्या उसे भगवान् को भूलने तथा अंधकार में लिन हो जाने में लगाती है। वस्तुतः ज्ञान तथा अज्ञान भगवान् की तटस्था शक्ति के शाश्वत विकल्प हैं और इस अर्थ में यह कहना गलत न होगा कि जीव या तो शाश्वत बद्ध है या शाश्वत मुक्त है। इस प्रसंग में *विनिर्मिते* शब्द

बतलाता है कि भगवान् अपनी शक्ति का विस्तार ज्ञान तथा अज्ञान के रूप में करते हैं, जो भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों के कार्यों को प्रदर्शित करते हैं। ऐसे प्रदर्शन विभिन्न देशों, कालों तथा परिस्थितियों के अनुसार प्रकट तथा अप्रकट हो सकते हैं, किन्तु भौतिक बन्धन तथा आध्यात्मिक मोक्ष तो भगवान् की तटस्था शक्ति के शाश्वत विकल्प हैं।

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।

बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

एकस्य—एक के; एव—निश्चय ही; मम—मेरे; अंशस्य—अंश के; जीवस्य—जीव के; एव—निश्चय ही; महा-मते—हे परम बुद्धिमान्; बन्धः—बन्धन; अस्य—उसका; अविद्यया—अज्ञान से; अनादिः—आदि-रहित; विद्यया—ज्ञान से; च—तथा; तथा—उसी तरह; इतरः—बन्धन का उल्टा, मोक्ष।

हे परम बुद्धिमान् उद्धव, जीव मेरा भिन्नांश है, किन्तु अज्ञान के कारण वह अनादि काल से भौतिक बन्धन भोगता रहा है। फिर भी ज्ञान द्वारा वह मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : जिस तरह सूर्य अपने ही प्रकाश से प्रकट होता है अथवा अपने द्वारा उत्पन्न बादलों से ढक जाता है, उसी तरह भगवान् ज्ञान तथा अज्ञान से, जो कि उनकी शक्ति के अंश है, अपने को प्रकट तथा अप्रकट करते हैं। *भगवद्गीता* (७.५) में कहा गया है—

*अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम् ।*

*जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥*

“हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक अन्य पराशक्ति है, जो उन जीवों से युक्त है, जो प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं और ब्रह्माण्ड का पालन कर रहे हैं।” इस श्लोक के बारे में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, “परमेश्वर कृष्ण ही एकमात्र नियन्ता हैं और सारे जीव उन्हीं के द्वारा नियंत्रित हैं। ये सारे जीव उनकी पराशक्ति हैं, क्योंकि उनके गुण परमेश्वर के समान हैं, किन्तु शक्ति की मात्रा के मामले में वे कभी भी समान नहीं हैं।”

शक्ति की मात्रा की निकृष्टता के कारण ही जीव माया से आच्छादित हो जाता है और भगवान् की शरण में जाने पर पुनः मुक्त होता है। *अंश* शब्द का उल्लेख *भगवद्गीता* (१५.७) में भी हुआ है—  
*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । जीव अंश है, अतएव वह मोक्ष तथा बन्धन के अधीन है।*  
जैसाकि *विष्णु पुराण* में कहा गया है—

*विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा ।*

*अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥*

“भगवान् विष्णु के पास उनकी श्रेष्ठ अन्तरंगा शक्ति के साथ ही क्षेत्रज्ञा शक्ति भी होती है। यह क्षेत्रज्ञा शक्ति आध्यात्मिक शक्ति भी है, किन्तु कभी कभी यह एक तीसरी या भौतिक शक्ति द्वारा आच्छादित रहती है, जिसे अज्ञान या अविद्या कहते हैं। इस तरह आच्छादन की विभिन्न अवस्थाओं के कारण दूसरी अर्थात् तटस्था शक्ति विभिन्न विकासात्मक रूपों में प्रकट होती है।”

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने लिखा है कि जीव अनादि काल से सकाम कर्म करता आया है। इस तरह उसके बद्ध-जीवन को अनादि कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा बद्ध-जीवन अन्तहीन नहीं है, क्योंकि जीव भगवद्भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। चूँकि जीव मोक्ष-लाभ कर सकता है, इसलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि उसका मुक्त जीवन एक विन्दु से प्रारम्भ होता है, किन्तु होता है अन्तहीन, क्योंकि मुक्त जीवन को नित्य माना जाता है। जो भी हो—जिसने भी भगवान् कृष्ण की शरण प्राप्त कर ली है उसे नित्य मुक्त माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक आकाश के नित्य वायुमण्डल में प्रवेश कर चुकता है। चूँकि आध्यात्मिक आकाश में भौतिक काल नहीं होता, अतः जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के लोक में नित्य आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर लेता है, वह काल से प्रभावित नहीं होता। कृष्ण के साथ उसके शाश्वत आनन्दमय जीवन को भौतिक भूत, वर्तमान तथा भविष्य नहीं कहा जा सकता, इसलिए वह नित्य मोक्ष कहलाता है। आध्यात्मिक आकाश में भौतिक काल अनुपस्थित रहता है और हर जीव परम पद प्राप्त करके शाश्वत मुक्त रहता है। ऐसा मोक्ष विद्या अर्थात् सम्यक् ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जिसे तीन अवस्थाओं में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में जाना जाता है और इसका वर्णन श्रीमद्भागवत में हुआ है। विद्या या ज्ञान की चरम अवस्था है भगवान् को समझना। भगवद्गीता में ऐसे ज्ञान को राज-विद्या अर्थात् समस्त ज्ञान का राजा कहा गया है और यह परम मोक्ष दिलाने वाला है।

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ।

विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; बद्धस्य—बद्धजीव के; मुक्तस्य—मुक्त भगवान् के; वैलक्षण्यम्—विभिन्न लक्षण; वदामि—अब मैं कहूँगा; ते—तुमसे; विरुद्ध—विपरीत; धर्मिणोः—जिसके दो स्वभाव; तात—हे उद्धव; स्थितयोः—स्थित दो के; एक-धर्मिणि—एक शरीर में अपने भिन्न भिन्न लक्षण प्रकट करता है।

इस तरह हे उद्धव, एक ही शरीर में हम दो विरोधी लक्षण—यथा महान् सुख तथा दुख पाते हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि नित्य मुक्त भगवान् तथा बद्ध आत्मा दोनों ही शरीर के भीतर हैं। अब मैं तुमसे उनके विभिन्न लक्षण कहूँगा।

तात्पर्य : पिछले अध्याय के ३६वें श्लोक में उद्धव ने मुक्त तथा बद्ध-जीवन के लक्षणों के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की थी। श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि बन्धन तथा मोक्ष को दो विभागों में समझा जा सकता है—या तो सामान्य बद्धात्मा तथा नित्य मुक्त भगवान् के मध्य अन्तर के रूप में अथवा जीव कोटि के बद्ध तथा मुक्त जीवों के अन्तर के रूप में। भगवान् सर्वप्रथम सामान्य जीव तथा भगवान् के बीच के अन्तर को बतलायेंगे, जिसे नियंत्रित तथा नियन्ता के अन्तर के रूप में समझा जा सकता है।

सुपर्णावितौ सदृशौ सखायौ

यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।

एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-

मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सुपर्णो—दो पक्षी; एतौ—ये; सदृशौ—एक समान; सखायौ—मित्र; यदृच्छया—संयोगवश; एतौ—ये दोनों; कृत—बनाये हुए; नीडौ—घोंसला; च—तथा; वृक्षे—वृक्ष पर; एकः—एक; तयोः—दोनों में से; खादति—खा रहा है; पिप्पल—वृक्ष के; अन्नम्—फलों को; अन्यः—दूसरा; निरन्नः—न खाते हुए; अपि—यद्यपि; बलेन—शक्ति से; भूयान्—श्रेष्ठ है।

संयोगवश दो पक्षियों ने एक ही वृक्ष पर एक साथ घोंसला बनाया है। दोनों पक्षी मित्र हैं और एक जैसे स्वभाव के हैं। किन्तु उनमें से एक तो वृक्ष के फलों को खा रहा है, जबकि दूसरा, जो कि इन फलों को नहीं खा रहा है, अपनी शक्ति के कारण श्रेष्ठ पद पर है।

तात्पर्य : एक ही वृक्ष पर दो पक्षियों का दृष्टान्त भौतिक शरीर के हृदय के भीतर आत्मा तथा परमात्मा दोनों की उपस्थिति का परिचायक है। जिस प्रकार पक्षी किसी वृक्ष में घोंसला बनाता है, उसी तरह जीव हृदय के भीतर स्थित है। यह दृष्टान्त उपयुक्त है, क्योंकि पक्षी सदैव वृक्ष से पृथक् होता है। इसी तरह आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं और नश्वर शरीर से पृथक् हैं। बलेन शब्द सूचित करता है कि भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से तुष्ट रहते हैं, जो कि सच्चिदानन्द स्वरूप है। जैसाकि भूयान् शब्द से सूचित होता है, परमेश्वर सदैव श्रेष्ठ पद पर आसीन हैं, जबकि जीव कभी

मोहग्रस्त रहता है, तो कभी प्रबुद्ध रहता है। *बलेन* शब्द बतलाता है कि भगवान् कभी भी अंधकार या अज्ञान में नहीं रहते, अपितु पूर्ण आनन्दमय चेतना में रहते हैं।

इस तरह भगवान् *निरन्न* हैं अर्थात् भौतिक कर्मों के तित्त फलों में अरुचि रखते हैं, जबकि सामान्य बद्धजीव तित्त फलों को मीठा समझ कर खाने में लगा रहता है। अन्ततः समस्त भौतिक प्रयास का फल मृत्यु है, किन्तु जीव मूर्खतावश सोचता है कि भौतिक वस्तुओं से उसे आनन्द मिलेगा। *सखायौ* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। हमारे असली मित्र भगवान् कृष्ण हैं, जो हमारे हृदय के भीतर स्थित हैं। एकमात्र वे ही हमारी आवश्यकताओं को जानते हैं और वे ही हमें असली सुख प्रदान कर सकते हैं।

कृष्ण इतने दयालु हैं कि वे हृदय में धैर्यरूप में स्थित होकर बद्धजीव को भगवद्धाम वापस ले जाने का मार्गदर्शन करते हैं। यह निश्चित है कि कोई भी संसारी मित्र अपने मूर्ख मित्र के साथ लाखों वर्षों तक नहीं रहता रहेगा, विशेषतया तब जबकि वह उसकी उपेक्षा करे या उसे कोसे भी। किन्तु भगवान् कृष्ण इतने श्रद्धालु प्रेमी-मित्र हैं कि वे असुर से असुर जीव के साथ भी रहते हैं और एक कीट, शूकर तथा कूकर के भी हृदय में रहते हैं। इसका कारण यह है कि भगवान् कृष्ण अत्यधिक कृष्णभावनाभावित हैं और प्रत्येक जीव को अपने अंश के रूप में देखते हैं। हर सजीव प्राणी को इस संसार रूपी वृक्ष के तित्त फलों का परित्याग कर देना चाहिए। उसे अपने हृदय के भीतर स्थित भगवान् की ओर मुख मोड़ना चाहिए और अपने असली मित्र भगवान् कृष्ण के साथ प्रेममय सम्बन्ध को पुनः जागृत करना चाहिए। *सदृशौ* शब्द बतलाता है कि जीव तथा भगवान् दोनों ही चेतन प्राणी हैं। भगवान् का अंश होने से हम उनके स्वभाव के भागीदार होते हैं, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में। इस तरह भगवान् तथा जीव *सदृशौ* होते हैं। ऐसा ही कथन *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (४.६) में पाया जाता है—

*द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।*

*तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकषीति ॥*

“एक वृक्ष पर दो पक्षी हैं। उनमें से एक पक्षी वृक्ष के फल खा रहा है, जबकि दूसरा पक्षी उसके कार्यों का साक्षी है। यह साक्षी भगवान् है और फल खाने वाला जीव है।”

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-

नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ।  
 योऽविद्यया युक्स तु नित्यबद्धो  
 विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

### शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; अन्यम्—दूसरा; च—भी; सः—वह; वेद—जानता है; विद्वान्—सर्वज्ञ होने से; अपिप्पल-अदः—वृक्ष के फलों को नहीं खाने वाला; न—नहीं; तु—लेकिन; पिप्पल-अदः—वृक्ष के फलों को खाने वाला; यः—जो; अविद्यया—अज्ञान से; युक्—परिपूर्ण; सः—वह; तु—निस्सन्देह; नित्य—शाश्वत रूप से; बद्धः—बद्ध; विद्या मयः—पूर्ण ज्ञान से पूरित; यः—जो; सः—वह; तु—निस्सन्देह; नित्य—नित्य; मुक्तः—मुक्त।

जो पक्षी वृक्ष के फल नहीं खा रहा वह भगवान् है, जो अपनी सर्वज्ञता के कारण अपने पद को तथा उस बद्धजीव के पद को, जो कि फल खा रहे पक्षी द्वारा दर्शाया गया है, समझते हैं। किन्तु दूसरी ओर, वह जीव न तो स्वयं को समझता है, न ही भगवान् को। वह अज्ञान से आच्छादित है, अतः नित्य बद्ध कहलाता है, जबकि पूर्ण ज्ञान से युक्त होने के कारण भगवान् नित्य मुक्त हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विद्यामय* शब्द भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का सूचक है, उनकी बहिरंगा शक्ति *महामाया* का नहीं। भौतिक जगत में विद्या तथा अविद्या दोनों हैं, किन्तु इस श्लोक में *विद्या* उस अन्तरंगा आध्यात्मिक ज्ञान की सूचक है, जिससे भगवान् सर्वज्ञ हैं। वृक्ष पर के दो पक्षियों का दृष्टान्त, जो कि अनेक वैदिक ग्रंथों में पाया जाता है, *नित्यो नित्यानाम्* कथन को प्रत्यक्ष करता है कि नित्य जीवों की दो कोटियाँ हैं—भगवान् तथा सूक्ष्म जीवात्मा। बद्ध जीवात्मा, भगवान् के नित्य दास के रूप में अपनी पहचान भूलकर अपने कर्मों के फल का भोग करना चाहता है और इस तरह अज्ञान के पाश में आ जाता है। अज्ञान का यह बन्धन अनादि काल से चला आ रहा है और इसका परिष्कार भगवद्भक्ति ग्रहण करके ही किया जा सकता है, क्योंकि भगवद्भक्ति आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है। बद्ध-जीवन में जीव को प्रकृति के नियमों द्वारा बाध्य होकर पवित्र तथा अपवित्र सकाम कर्म करने पड़ते हैं, किन्तु जीव अपनी मुक्तावस्था में अपने कर्म के फल परम भोक्ता भगवान् को अर्पित करता है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि जीव का ज्ञान अपनी मुक्तावस्था में भी मात्रा में भगवान् के तुल्य नहीं होता। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ जीव ब्रह्मा भी भगवान् तथा उनकी शक्तियों का केवल आंशिक ज्ञान ही प्राप्त कर पाते हैं। *भगवद्गीता* (४.५) में भगवान् ने अर्जुन से इस श्रेष्ठ ज्ञान का वर्णन किया है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

“ भगवान् ने कहा : तुम्हारे तथा मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं । मुझे तो उन सबका स्मरण है किन्तु हे परन्तप ! तुम्हें उनका स्मरण नहीं है । ”

बद्ध शब्द जीव की भगवान् पर शाश्वत निर्भरता को बताने वाला है, चाहे वह बद्ध अथवा मुक्त अवस्था में हो । माया के संसार में जीव जन्म-मृत्यु के क्रूर नियमों से बँधा रहता है, जबकि वैकुण्ठ में जीव भगवान् के प्रेम-बन्धन से बँधा होता है । मोक्ष का अर्थ है जीवन के कष्टों से मुक्ति, किन्तु इसका अर्थ भगवान् के साथ प्रेममय सम्बन्ध से मुक्ति कदापि नहीं होता, क्योंकि यह सम्बन्ध शाश्वत जीवन का सार है । श्रील मध्वाचार्य के अनुसार, एकमात्र भगवान् ही नित्य मुक्त जीव हैं और अन्य सारे जीव आनन्दमय भक्ति से अथवा माया के बन्धन से भगवान् के आश्रित और बद्ध हैं । बद्ध आत्मा को संसाररूपी वृक्ष के तिक्त फलों का आस्वादन त्याग देना चाहिए और अपने हृदय में स्थित अपने परम प्रिय मित्र भगवान् कृष्ण की ओर ध्यान देना चाहिए । भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति के तुल्य या इससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं और कृष्ण-प्रेम रूपी फल का आस्वादन करने पर मुक्त जीव आनन्द सागर में प्रवेश करता है ।

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान्स्वप्नाद्यथोत्थितः ।

अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा ॥ ८ ॥

#### शब्दार्थ

देह—भौतिक शरीर में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; न—नहीं; देह—शरीर में; स्थः—स्थित; विद्वान्—बुद्धिमान व्यक्ति; स्वप्नात्—स्वप्न से; यथा—जिस तरह; उत्थितः—जाग कर; अदेह—शरीर में नहीं; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; देह—शरीर में; स्थः—स्थित; कु-मतिः—मूर्ख व्यक्ति; स्वप्न—स्वप्न; दृक्—देख रहा; यथा—जिस तरह ।

जो व्यक्ति स्वरूपसिद्ध है, वह भौतिक शरीर में रहते हुए भी अपने को शरीर से परे देखता है, जिस तरह मनुष्य स्वप्न से जाग कर स्वप्न-शरीर से अपनी पहचान त्याग देता है । किन्तु मूर्ख व्यक्ति यद्यपि वह अपने भौतिक शरीर से पहचान नहीं रखता किन्तु इसके परे होता है, अपने भौतिक शरीर में उसी प्रकार स्थित सोचता है, जिस तरह स्वप्न देखने वाला व्यक्ति अपने को काल्पनिक शरीर में स्थित देखता है ।

**तात्पर्य :** बद्ध तथा मुक्त जीवों के विभिन्न लक्षणों की व्याख्या करते हुए भगवान् कृष्ण ने सर्वप्रथम नित्य मुक्त भगवान् तथा उनकी तटस्था शक्ति—असंख्य जीव, जो कभी बद्ध, तो कभी मुक्त होते हैं—के अन्तर को स्पष्ट किया। इस श्लोक में तथा अगले नौ श्लोकों में भगवान् ने मुक्त तथा बद्ध जीवात्माओं के विभिन्न लक्षणों का वर्णन किया है। मनुष्य स्वप्न के समय अपने को एक काल्पनिक शरीर में देखता है, किन्तु जागने पर वह उस शरीर से अपनी पहचान करना छोड़ देता है। इसी तरह, जो कृष्णभावनामृत के प्रति जागृत हो जाता है, वह अपनी पहचान न तो स्थूल या सूक्ष्म शरीर से करता है, न ही भौतिक जीवन के सुख या दुख से प्रभावित होता है। दूसरी ओर, मूर्ख व्यक्ति (कुमति) संसाररूपी स्वप्न से जागता नहीं और स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों की मिथ्या पहचान के कारण असंख्य समस्याओं से पीड़ित होता रहता है। मनुष्य को अपनी नित्य आध्यात्मिक पहचान (नित्य स्वरूप) में स्थित होना चाहिए। अपनी सही पहचान कृष्ण के नित्य दास के रूप में कर लेने पर मनुष्य झूठी भौतिक पहचान से मुक्त हो जाता है, फलतः मोहमय संसार के कष्ट तुरन्त समाप्त हो जाते हैं, जिस तरह जागने पर कष्टप्रद स्वप्न की चिन्ता समाप्त हो जाती है। किन्तु यह समझ लेना होगा कि स्वप्न से जागृत होने की यह उपमा भगवान् पर कभी लागू नहीं होती, क्योंकि वे कभी भी मोह में नहीं रहते। वे अपनी अद्वितीय कोटि में जिसे विष्णु तत्त्व कहते हैं, नित्य जागृत तथा प्रबुद्ध रहते हैं। जो विद्वान् होता है, वह ऐसे ज्ञान को सरलता से समझ सकता है।

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च ।

गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान्यस्त्वविक्रियः ॥ ९ ॥

**शब्दार्थ**

इन्द्रियैः—इन्द्रियों द्वारा; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; अर्थेषु—पदार्थों में; गुणैः—गुणों से उत्पन्न हुए; अपि—भी; गुणेषु—उन्हीं गुणों से उत्पन्न में से; च—भी; गृह्यमाणेषु—ग्रहण किये जाकर; अहम्—मिथ्या अभिमान; कुर्यात्—उत्पन्न करना चाहिए; न—नहीं; विद्वान्—प्रबुद्ध; यः—जो; तु—निस्सन्देह; अविक्रियः—भौतिक इच्छा से अप्रभावित।

भौतिक इच्छाओं के कल्मष से मुक्त प्रबुद्ध व्यक्ति अपने आपको शारीरिक कार्यों का कर्ता नहीं मानता, प्रत्युत वह जानता है कि ऐसे कार्यों में प्रकृति के गुणों से उत्पन्न इन्द्रियाँ ही उन्हीं गुणों से उत्पन्न इन्द्रिय-विषयों से सम्पर्क करती हैं।

**तात्पर्य :** भगवद्गीता (३.२८) में भगवान् कृष्ण ने ऐसे ही वचन कहे हैं—

तत्त्ववितु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।



गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

“हे महाबाहु! भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म के भेद को भलीभाँति जानते हुए, जो परम सत्य को जानने वाला है, वह कभी भी अपने आपको इन्द्रियों में तथा इन्द्रियतृप्ति में नहीं लगाता।”

भौतिक शरीर इन्द्रिय-विषयों से अन्योन्य क्रिया करता है, क्योंकि शरीर को जीवित रखने के लिए खाना, पीना, बोलना, सोना इत्यादि आवश्यक है, किन्तु प्रबुद्ध व्यक्ति, जो कृष्णभावनामृत के विज्ञान को जानता है, यह कभी नहीं सोचता “मैं इन इन्द्रिय-विषयों को अपनी सम्पत्ति मानता हूँ और ये मेरे आनन्द के लिए हैं।” इसी प्रकार यदि शरीर कोई अद्भुत कर्म करता है, तो कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी गर्वित नहीं होता, न ही वह शरीर द्वारा किसी प्रकार से कार्य करने में असफल होने पर हताश होता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत का अर्थ है स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से पहचान का परित्याग। मनुष्य को चाहिए कि वह इन्हें भगवान् की बहिरंगा शक्ति के रूप में देखे, जो कि भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि माया के निर्देशन में कार्य करती है। सकाम कर्मों में लीन रहने वाला व्यक्ति महामाया के अथवा बहिरंगा माया के प्रभाव-क्षेत्र में कार्य करता है और भौतिक जगत के कष्टों का अनुभव करता है। दूसरी ओर, भक्त अन्तरंगा शक्ति अर्थात् योगमाया के प्रभाव में कर्म करता है और भगवान् को अपनी प्रेमाभक्ति अर्पित करके तुष्ट रहता है। प्रत्येक अवस्था में भगवान् अपनी विविध शक्तियों के द्वारा कर्म के चरम कर्ता हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, जो व्यक्ति अपने को देहात्म बुद्धि से ऊपर बताता है, किन्तु उसी के साथ ही भौतिक इच्छा तथा मानसिक विकार के वशीभूत रहता है, वह वंचक तथा अधम बद्धजीव माना जाता है।

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन्गुणभाव्येन कर्मणा ।

वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबध्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दैव—मनुष्य के पूर्व सकाम कर्मों के; अधीने—अधीन; शरीरे—भौतिक शरीर में; अस्मिन्—इस; गुण—गुणों से; भाव्येन—उत्पन्न; कर्मणा—सकाम कर्मों द्वारा; वर्तमानः—स्थित होकर; अबुधः—मूर्ख; तत्र—शारीरिक कार्यों में; कर्ता—करने वाला; अस्मि—हूँ; इति—इस प्रकार; निबध्यते—बँध जाता है।

अपने पूर्व सकाम कर्मों द्वारा उत्पन्न शरीर के भीतर स्थित, अज्ञानी व्यक्ति सोचता है कि मैं ही कर्म का कर्ता हूँ। इसलिए ऐसा मूर्ख व्यक्ति मिथ्या अहंकार से मोहग्रस्त होकर, उन सकाम कर्मों से बँध जाता है, जो वस्तुतः प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

जीव परम पुरुष भगवान् कृष्ण पर आश्रित होता है, लेकिन मिथ्या अहंकार के कारण वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपेक्षा करके अपने को कर्म का कर्ता तथा प्रत्येक वस्तु का भोक्त मानता है। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार राजा उत्पात करने वाली प्रजा को दण्ड देता है, उसी तरह परमेश्वर पापी जीव को माया के जंजाल में डालकर एक शरीर से दूसरे में देहान्तर के लिए बाध्य करके दण्ड देता है।

एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने ।

दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ।

न तथा बध्यते विद्वान्त्र तत्रादयन्गुणान् ॥ ११ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विरक्तः—भौतिक भोग से विलग हुआ; शयने—लेटने या सोने में; आसन—बैठने में; अटन—चलते हुए; मज्जने—अथवा स्नान में; दर्शन—देखने में; स्पर्शन—स्पर्श करने; घ्राण—सूँघने; भोजन—खाने; श्रवण—सुनने; आदिषु—इत्यादि में; न—नहीं; तथा—इस प्रकार; बध्यते—बाँधा जाता है; विद्वान्—बुद्धिमान व्यक्ति; तत्र तत्र—जहाँ भी जाता है; आदयन्—अनुभव कराते; गुणान्—प्रकृति के गुणों से उत्पन्न, इन्द्रियाँ।

प्रबुद्ध व्यक्ति विरक्त रहकर शरीर को लेटने, बैठने, चलने, नहाने, देखने, छूने, सूँघने, खाने, सुनने इत्यादि में लगाता है, लेकिन वह कभी भी ऐसे कार्यों में फँसता नहीं। निस्सन्देह, वह समस्त शारीरिक कार्यों का साक्षी बनकर अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों में लगाता है और वह मूर्ख व्यक्ति की भाँति उसमें फँसता नहीं।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में उद्धव ने भगवान् कृष्ण से यह प्रश्न पूछा था कि प्रबुद्ध व्यक्ति बद्धजीव की तरह अपने को बाह्य शारीरिक कार्यों में क्यों लगाता है? यहाँ पर उसका उत्तर भगवान् द्वारा दिया गया है। मूर्ख व्यक्ति शारीरिक कार्यों में लगा रहकर भौतिक जीवन के कारणों तथा फल में

लिप्त रहता है, अतएव उसे उत्कट शोक तथा हर्ष का सामना करना पड़ता है। किन्तु स्वरूपसिद्ध व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों की हार तथा पीड़ा का अध्ययन करता है और शारीरिक कार्यों को भोगने का भूलकर भी प्रयास नहीं करता, उल्टे वह विरक्त साक्षी बनकर अपनी इन्द्रियों को शरीर-पालन के सामान्य कार्यों में लगाता है। जैसाकि *आदयन्* शब्द से सूचित होता है, वह भौतिक अनुभव में वास्तविक स्व अर्थात् अपने आपको न लगाकर और कुछ को लगाता है।

प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ।

वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः ।

प्रतिबुद्ध इव स्वप्नानानात्वाद्द्विनिवर्तते ॥ १३ ॥

### शब्दार्थ

प्रकृति—भौतिक जगत में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; असंसक्तः—इन्द्रियतृप्ति से पूर्णतया विरक्त; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; सविता—सूर्य; अनिलः—वायु; वैशारद्या—अत्यन्त कुशल द्वारा; ईक्षया—दृष्टि; असङ्ग—विरक्ति द्वारा; शितया—तेज किया हुआ; छिन्न—खण्ड खण्ड; संशयः—सन्देह; प्रतिबुद्धः—जाग्रत; इव—सदृश; स्वप्नात्—स्वप्न से; नानात्वात्—संसार के विविधत्व के द्वन्द्व से; विनिवर्तते—मुख मोड़ता है या परित्याग कर देता है।

यद्यपि आकाश हर वस्तु की विश्राम-स्थली है, किन्तु वह न तो किसी वस्तु से मिलता है, न उसमें उलझता है। इसी प्रकार सूर्य उन नाना जलाशयों के जल में लिप्त नहीं होता, जिनमें से वह प्रतिबिम्बित होता है। इसी तरह सर्वत्र बहने वाली प्रबल वायु उन असंख्य सुगंधियों तथा वातावरणों से प्रभावित नहीं होती, जिनमें से होकर वह गुजरती है। ठीक इसी तरह स्वरूपसिद्ध आत्मा भौतिक शरीर तथा अपने आसपास के भौतिक जगत से पूर्णतया विरक्त रहता है। वह उस मनुष्य की तरह है, जो स्वप्न से जगा है। स्वरूपसिद्ध आत्मा विरक्ति द्वारा प्रखर की गई कुशल दृष्टि से आत्मा के पूर्ण ज्ञान से समस्त संशयों को छिन्न-भिन्न कर देता है और अपनी चेतना को भौतिक विविधता के विस्तार से पूर्णतया विलग कर लेता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार प्रबुद्ध व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा समस्त संशयों को छिन्न कर देता है। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनसे पृथक् किसी अस्तित्व की संभावना नहीं हो सकती। ऐसे कुशल ज्ञान से सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तः*—आकाश, सूर्य अथवा वायु की तरह स्वरूपसिद्ध व्यक्ति भगवान् की सृष्टि में रहते हुए भी उसमें बँधता नहीं। *नानात्व* मनुष्य के भौतिक

शरीर, अन्यो के शरीरों तथा शारीरिक एवं मानसिक इन्द्रियतृप्ति की असंख्य साज-सामग्री का द्योतक है। कृष्णभावनामृत के प्रति जागरूक होने से मनुष्य मोहमय इन्द्रियतृप्ति से विलग हो जाता है और शरीर के भीतर स्थित आत्मा के उत्तरोत्तर साक्षात्कार में लीन रहने लगता है। जैसाकि वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों के दृष्टान्त से प्रकट होता है आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से सर्वथा पृथक् हैं। यदि मनुष्य भगवान् पर पूर्णतः आश्रित हो जाय, तो इस जगत के भीतर रहते हुए भी उसे कोई कष्ट या चिन्ता नहीं होगी। भौतिक पदार्थों के असीम अनुभव से मनुष्य की चिन्ता में वृद्धि ही होती है, जबकि परम सत्य भगवान् कृष्ण की अनुभूति से मनुष्य को तुरन्त शान्ति-लाभ होता है। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति पदार्थ-जगत से विरक्त होकर पूर्णतया स्वरूपसिद्ध तथा कृष्णभावनाभावित बन जाता है।

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।

वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; स्युः—हैं; वीत—रहित; सङ्कल्पाः—भौतिक इच्छा से; प्राण—प्राण; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; धियाम्—बुद्धि के; वृत्तयः—कार्य; सः—ऐसा व्यक्ति; विनिर्मुक्तः—पूर्णतया मुक्त; देह—शरीर में; स्थः—स्थित; अपि—होते हुए भी; हि—निश्चय ही; तत्—शरीर के; गुणैः—गुणों से।

वह व्यक्ति स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से पूर्णतया मुक्त माना जाता है, जब उसके प्राण, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के सारे कर्म किसी भौतिक इच्छा के बिना सम्पन्न किये जाते हैं। ऐसा व्यक्ति शरीर में स्थित रहकर भी बद्ध नहीं होता।

तात्पर्य : भौतिक शरीर तथा मन को शोक, मोह, भूख, काम, लोभ, पागलपन, हताशा इत्यादि सताते रहते हैं, किन्तु जो व्यक्ति आसक्तिरहित होकर इस जगत में रहता है, वह विनिर्मुक्त है। भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहने पर प्राण, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि विमल हो जाते हैं, जैसाकि सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत में स्थान-स्थान पर पुष्टि हुई है।

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद्यदृच्छया ।

अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; आत्मा—शरीर; हिंस्यते—आक्रमण किया जाता है; हिंस्रैः—पापी व्यक्तियों या उग्र पशुओं द्वारा; येन—जिससे; किञ्चित्—कुछ कुछ; यदृच्छया—किसी न किसी तरह; अर्च्यते—रूपान्तरित या प्रभावित होता है; वा—अथवा; क्वचित्—कहीं; तत्र—वहाँ; न—नहीं; व्यतिक्रियते—परिवर्तित अथवा प्रभावित होता है; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति।

कभी कभी अकारण ही मनुष्य के शरीर पर क्रूर व्यक्तियों या उग्र पशुओं द्वारा आक्रमण किया जाता है। अन्य अवसरों तथा अन्य स्थानों पर उसी व्यक्ति का दैवयोग से अत्यन्त सम्मान या पूजन होता है। जो व्यक्ति आक्रमण किये जाने पर क्रुद्ध नहीं होता, न ही पूजा किये जाने पर प्रमुदित होता है, वही वास्तव में बुद्धिमान है।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति अकारण ही अपने ऊपर आक्रमण किये जाने पर क्रुद्ध नहीं होता और अपनी पूजा किये जाने पर हर्षित नहीं होता, तो यह समझिये कि वह आत्म-साक्षात्कार की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया है और आध्यात्मिक बुद्धि के पद को प्राप्त है। उद्धव ने भगवान् कृष्ण से पूछा—*कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः*—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति को किन लक्षणों से पहचाना जा सकता है? भगवान् कृष्ण ने जिस तरह अर्जुन को ज्ञान दिया था, उसी तरह अब वे उद्धव को वही विषय समझा रहे हैं। इस श्लोक में भगवान् उन लक्षणों को बतलाते हैं, जिनसे सन्त-पुरुष को आसानी से पहचाना जा सकता है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति आलोचना किये जाने पर अथवा आक्रमण किये जाने पर क्रुद्ध हो उठता है और अन्यो द्वारा प्रशंसित होने पर हर्ष के मारे फूल कर कुप्पा हो जाता है। ऐसा ही कथन याज्ञवल्क्य का मिलता है, जिसमें कहा गया है कि वास्तविक बुद्धिमान व्यक्ति न तो काँटा चुभाने पर क्रुद्ध होता है न चन्दन-लेप जैसी शुद्ध सामग्री से पूजित होने पर मन में प्रसन्न होता है।

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।

वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृग्मुनिः ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

न स्तुवीत—प्रशंसा नहीं करता; न निन्देत—आलोचना नहीं करता; कुर्वतः—काम करने वाले; साधु—उत्तम; असाधु—दुष्ट; वा—अथवा; वदतः—बोलने वाले; गुण-दोषाभ्याम्—अच्छे तथा बुरे गुणों से; वर्जितः—मुक्त हुए; सम-दृक्—समानदर्शी; मुनिः—सन्त-साधु।

सन्त पुरुष समान दृष्टि से देखता है, अतएव भौतिक दृष्टि से अच्छे या बुरे कर्म से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि वह अन्यो को अच्छा तथा बुरा कार्य करते और उचित तथा अनुचित बोलते देखता है, किन्तु वह किसी की प्रशंसा या आलोचना नहीं करता।

न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।  
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥ १७ ॥

#### शब्दार्थ

न कुर्यात्—नहीं करे; न वदेत्—नहीं बोले; किञ्चित्—कुछ भी; न ध्यायेत्—चिन्तन नहीं करे; साधु असाधु वा—अच्छी अथवा बुरी वस्तुएँ; आत्म-आरामः—आत्म-साक्षात्कार में आनन्द प्राप्त करने वाला; अनया—इस; वृत्त्या—जीवन-शैली द्वारा; विचरेत्—उसे भ्रमण करना चाहिए; जड-वत्—जड़ व्यक्ति की तरह; मुनिः—साधु-पुरुष।

मुक्त साधु-पुरुष को अपने शरीर-पालन के लिए भौतिक अच्छाई या बुराई की दिशा हेतु न तो कर्म करना चाहिए, न बोलना या सोच-विचार करना चाहिए। प्रत्युत उसे सभी भौतिक परिस्थितियों में विरक्त रहना चाहिए और आत्म-साक्षात्कार में आनन्द लेते हुए उसे इस मुक्त जीवन-शैली में संलग्न होकर विचरण करना चाहिए और बाहरी लोगों को मन्दबुद्धि-व्यक्ति जैसा लगना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में ज्ञान-योगियों के लिए अनुशासन जैसी संस्तुति हैं, जो अपनी बुद्धि से यह समझने का प्रयास करते हैं कि वे भौतिक शरीर नहीं हैं। किन्तु जो व्यक्ति भगवद्भक्ति में लगा हुआ है, वह भौतिक वस्तुओं को भगवान् कृष्ण की सेवा में उपादेय होने के अनुसार ग्रहण करता या बहिष्कार करता है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहता हो, उसे अत्यन्त बुद्धिमान समझा जाना चाहिए, जड़वत् नहीं, जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है। यद्यपि भगवद्भक्त अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए न तो कर्म करता है, न बोलता है, न ही सोचता-विचारता है, किन्तु वह भगवान् की भक्ति के लिए कार्य करने, बोलने और ध्यान करने में बहुत व्यस्त रहता है। भक्त समस्त पतित बद्धजीवों को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए बड़ी बड़ी योजनाएँ बनाता है, जिससे वे भी शुद्ध बन सकें और भगवद्धाम जा सकें। भौतिक वस्तुओं का केवल परित्याग ही पूर्ण चेतना नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि हर वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति तथा भगवान् के आनन्द के लिए उत्पन्न समझे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में लगे व्यक्ति के पास इतना समय नहीं रहता कि वह भौतिक भेद-भाव कर सके, अतएव वह स्वतः ही मुक्त पद को प्राप्त होता है।

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि ।  
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥ १८ ॥

#### शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्मणि—वैदिक साहित्य में; निष्णातः—पूर्ण अध्ययन से निपुण; न निष्णायात्—मन को लीन नहीं करता; परे—परम में; यदि—यदि; श्रमः—परिश्रम; तस्य—उसका; श्रम—महत्प्रयास का; फलः—फल; हि—निश्चय ही; अधेनुम्—दूध न देने वाली गाय; इव—सदृश; रक्षतः—रखवाले का।

यदि कोई गहन अध्ययन करके वैदिक साहित्य के पठन-पाठन में निपुण बन जाता है, किन्तु भगवान् में मन को स्थिर करने का प्रयास नहीं करता, तो उसका श्रम वैसा ही होता है, जिस तरह दूध न देने वाली गाय की रखवाली करने में अत्यधिक श्रम करने वाले व्यक्ति का। दूसरे शब्दों में, वैदिक ज्ञान के श्रमपूर्ण अध्ययन का फल कोरा श्रम ही निकलता है। उसके कोई अन्य सार्थक फल प्राप्त नहीं होगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने बतलाया है कि इस श्लोक में आया परे शब्द भगवान् का सूचक है, न कि निर्विशेष ब्रह्म का, क्योंकि इन उपदेशों के दाता भगवान् कृष्ण ने अगले श्लोकों में अपने को परम कहा है। इसकी निर्विशेषवादी व्याख्या एकदेशान्वयउत्तरश्लोकार्थतात्पर्यविरोधः अर्थात् विरोधमूलक व्याख्या होगी, जो इसी प्रसंग में कहे गये अन्य श्लोकों से विरोध उत्पन्न करेगी।

गाय की रखवाली में अत्यधिक श्रम की आवश्यकता होती है। गाय को खिलाने के लिए या तो अन्न उगाना पड़ता है या उपयुक्त चरागाह रखना पड़ता है। यदि चरागाह को ठीक से नहीं रखा जाता, तो विषैले खर-पतवार उगेंगे या फिर सर्प बढ़ने लगेंगे और खतरा उत्पन्न हो जायेगा। गायों को कई तरह के रोग तथा किलनियाँ लग जाती हैं, अतः उन्हें लगातार नहलाना-धुलाना पड़ता है और रोगाणुओं से मुक्त करना पड़ता है। इसी प्रकार गाय की चरागाह के चारों ओर बाड़ लगानी पड़ती है। इस तरह और भी कई कार्य करने होते हैं। किन्तु यदि गाय दूध न दे, तो सारा श्रम व्यर्थ जाता है। इसी तरह वैदिक मंत्रों के सूक्ष्म तथा गूढ़ अर्थ जानने के लिए संस्कृत भाषा सीखने में परिश्रम करना पड़ता है। यदि इतने परिश्रम के बाद भगवान् के दिव्य रूप को न समझा जा सके, जो कि जीवन के समस्त सुख का स्रोत है और यदि मनुष्य समस्त वस्तुओं के परम आश्रय भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तो उसका श्रम व्यर्थ जाता है। यहाँ तक कि मुक्तात्मा भी, जिसने देह-आत्म-बुद्धि का परित्याग कर दिया होता है, यदि भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तो नीचे गिर जाता है। निष्णात शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को अन्ततः जीवन-लक्ष्य प्राप्त करना होगा अन्यथा वह निपुण नहीं है। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—प्रेमा पुमर्थो महान्—मानव-जीवन का वास्तविक लक्ष्य भगवत्प्रेम है और इस लक्ष्य को प्राप्त किये बिना कोई निपुण नहीं कहला सकता।

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्या  
 देहं पराधीनमसत्प्रजां च ।  
 वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं  
 हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥ १९ ॥

### शब्दार्थ

गाम्—गाय को; दुग्ध—जिसका दूध; दोहाम्—पहले दुहा जा चुका हो; असतीम्—कुलटा, व्यभिचारिणी; च—भी;  
 भार्याम्—पत्नी को; देहम्—शरीर को; पर—अन्यों के; अधीनम्—आश्रित; असत्—व्यर्थ; प्रजाम्—बच्चों को; च—भी;  
 वित्तम्—सम्पत्ति को; तु—लेकिन; अतीर्थी-कृतम्—योग्य पात्र को न दिया जाकर; अङ्ग—हे उद्धव; वाचम्—वैदिक ज्ञान;  
 हीनाम्—रहित; मया—मेरे ज्ञान का; रक्षति—रखवाली करता है; दुःख-दुःखी—एक कष्ट के बाद दूसरा कष्ट सहन करने  
 वाला ।

हे उद्धव, वह व्यक्ति निश्चय ही अत्यन्त दुखी होता है, जो दूध न देने वाली गाय, कुलटा पत्नी, पूर्णतया पराश्रित शरीर, निकम्पे बच्चों या सही कार्य में न लगाई जाने वाली धन-सम्पदा की देखरेख करता है। इसी तरह, जो व्यक्ति मेरी महिमा से रहित वैदिक ज्ञान का अध्ययन करता है, वह भी सर्वाधिक दुखियारा है।

तात्पर्य : वह व्यक्ति वास्तव में विद्वान या निपुण है, जो यह समझता है कि सारी भौतिक वस्तुएँ, जिनकी अनुभूति विविध इन्द्रियों द्वारा होती है, भगवान् की अंश हैं और भगवान् के आश्रय के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। इस श्लोक में अनेक दृष्टान्तों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यदि वाक्-शक्ति का उपयोग भगवान् के समर्थन में नहीं होता, तो वह व्यर्थ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक का भावार्थ यह है कि विविध इन्द्रियों के कार्य व्यर्थ होते हैं, यदि उनका उपयोग ईश्वर के महिमा-गायन में नहीं किया जाता। निस्सन्देह अवधूत ब्राह्मण ने पहले ही राजा यदु से कहा था कि यदि जिह्वा को वश में नहीं रखा जाता है, तो आत्मसंयम का सारा कार्यक्रम विफल हुआ समझो। जब तक भगवान् की महिमा का उच्चारण नहीं किया जाता, तब तक जीभ को वश में नहीं किया जा सकता।

दूधरहित गाय का दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण है। भद्र पुरुष कभी भी गाय को नहीं मारता, अतएव जब गाय बाँझ हो जाती है और दूध नहीं देती, तो उसकी रक्षा के कार्य में लग जाना चाहिए, क्योंकि व्यर्थ गाय को कोई नहीं खरीदेगा। बाँझ गाय का लोभी मालिक कुछ काल तक सोचता रह सकता है, “मैं इस गाय के पालने में काफी धन लगा चुका हूँ और निकट भविष्य में यह पुनः गाभिन होगी तो दूध



देगी।” किन्तु जब यह आशा व्यर्थ जाती है, तो वह गाय के स्वास्थ्य तथा उसकी सुरक्षा के प्रति अन्यमनस्क तथा उपेक्षा से पूर्ण हो जाता है। ऐसी पापपूर्ण अवमानना से मनुष्य को अगले जन्म में दुख भोगना पड़ सकता है, यद्यपि वह इस जीवन में बाँझ गाय के कारण पहले ही काफी दुख उठा चुका होता है।

इसी तरह यह जानकर कि उसकी पत्नी, न तो साध्वी है, न स्नेहिल, तो वह सन्तान पाने के लिए इतना उत्सुक हो उठता है कि वह ऐसी व्यर्थ पत्नी की देखरेख यह सोचकर करता रहता है कि “मैं अपनी पत्नी को सती स्त्री के धार्मिक कार्य सिखलाऊँगा। महान् स्त्रियों के ऐतिहासिक दृष्टान्त सुनकर उसका हृदय अवश्यमेव परिवर्तित हो जायेगा और वह मेरी अद्भुत पत्नी बन जायेगी।” दुर्भाग्यवश कई बार कुलटा स्त्री बदलती नहीं और कई व्यर्थ की सन्तानों को जन्म देती है, जो उसी के समान मूर्ख तथा अधार्मिक होती हैं। ऐसी सन्तानें कभी भी पिता को कोई सुख नहीं पहुँचातीं, फिर भी पिता अत्यधिक श्रम करके उनकी देखरेख करता है।

इतना ही नहीं, जिसने भगवत्कृपा से धन संचित कर लिया है, उसे उचित व्यक्ति को तथा उचित कार्य के लिए दान देने के लिए सतर्क रहना होगा। यदि ऐसा उपयुक्त व्यक्ति या कारण प्रकट होता है और तब यदि कोई संकोच करता है और स्वार्थ-भाव में आकर दान नहीं देता, तो उसकी ख्याति जाती रहती है और अगले जीवन में वह निर्धन होगा। जो व्यक्ति समुचित रीति से दान नहीं देता, तो वह अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने में पूरा जीवन बिता देता है, जिससे उसे कोई यश या सुख हाथ नहीं लगता।

पिछले सारे दृष्टान्त उस वैदिक ज्ञान का श्रमपूर्वक अध्ययन करने की व्यर्थता को बतलाने वाले हैं, जो भगवान् की महिमा का गान नहीं करता। श्रील जीव गोस्वामी टीका करते हैं कि वेदों की आध्यात्मिक ध्वनि का उद्देश्य मनुष्य को भगवान् कृष्ण के चरणकमलों तक लाना है। उपनिषदों तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में परम सत्य को पाने के लिए अनेक विधियों की संस्तुति की गई है, किन्तु परस्पर विरोधी तथा अनेक व्याख्याओं, टीकाओं और आदेशों के कारण मनुष्य ऐसे साहित्य के अध्ययन मात्र से परम सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु यदि मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण को समस्त कारणों का परम कारण समझता है और उपनिषदों तथा अन्य वैदिक साहित्य को परमेश्वर के महिमा-गान के रूप

में पढ़ता है, तो वह निश्चय ही भगवान् के चरणकमलों में स्थिर हो सकता है। उदाहरणार्थ, श्रील प्रभुपाद ने *श्री ईशोपनिषद्* का तथा टीका इस प्रकार किए हैं कि पाठक भगवान् के निकट पहुँच जाता है। निस्सन्देह, भगवान् कृष्ण के चरणकमल ही एकमात्र विश्वसनीय नाव है, जिससे संसाररूपी तरंगित सागर को पार किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कन्ध में ब्रह्मा तक ने कहा है कि यदि कोई व्यक्ति भक्ति के मंगलप्रद मार्ग को छोड़ देता है और वैदिक चिन्तन में व्यर्थ श्रम करता है, तो वह उस मूर्ख के तुल्य है, जो खाली भूसी को पीट कर चावल पाने की आशा करता है। श्रील जीव गोस्वामी की संस्तुति है कि मनुष्य शुष्क वैदिक चिन्तन का पूर्णरूपेण परित्याग कर दे, क्योंकि इससे उसे परम सत्य भगवान् कृष्ण की भक्ति नहीं मिल सकती।

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म

स्थित्युद्धवप्राणनिरोधमस्य ।

लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्

वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥ २० ॥

#### शब्दार्थ

यस्याम्—जिस ( साहित्य ) में; न—नहीं; मे—मेरा; पावनम्—पवित्रकारी; अङ्ग—हे उद्धव; कर्म—कर्म; स्थिति—पालन; उद्धव—सृष्टि; प्राण-निरोधम्—तथा संहार; अस्य—भौतिक जगत का; लीला-अवतार—लीला-अवतारों में से; ईप्सित—अभीष्ट; जन्म—प्राकट्य; वा—अथवा; स्यात्—है; वन्ध्याम्—बंजर; गिरम्—वाणी; ताम्—यह; बिभृयात्—समर्थन करे; न—नहीं; धीरः—बुद्धिमान पुरुष।

हे उद्धव, बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह कभी भी ऐसा ग्रंथ न पढ़े, जिनमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाले मेरे कार्यकलापों का वर्णन न हो। निस्सन्देह मैं सम्पूर्ण जगत का सृजन, पालन तथा संहार करता हूँ। मेरे समस्त लीलावतारों में से कृष्ण तथा बलराम सर्वाधिक प्रिय हैं। ऐसा कोई भी तथाकथित ज्ञान, जो मेरे इन कार्यकलापों को महत्व नहीं देता, वह निरा बंजर है और वास्तविक बुद्धिमानों द्वारा स्वीकार्य नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर *लीलावतारेप्सित-जन्म* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अद्भुत लीलाएँ सम्पन्न करने के लिए भगवान् का अवतार *लीलावतार* कहलाता है और विष्णु के ऐसे अद्भुत रूप रामचन्द्र नृसिंहदेव, कूर्म, वराह जैसे नामों से प्रशंसित होते हैं। किन्तु इन समस्त लीलावतारों में से आज भी सर्वाधिक प्रिय भगवान् कृष्ण हैं, जो कि *विष्णु-तत्त्व* के आदि स्रोत हैं। भगवान् का प्राकट्य कंस के बंदीगृह में होता है और वे तुरन्त ही वृन्दावन के ग्रामीण परिवेश में स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं, जहाँ

पर वे अपने ग्वालमित्रों, सखियों, माता-पिता तथा शुभचिन्तकों के साथ अद्भुत बाल-लीलाएँ प्रदर्शित करते हैं। कुछ काल बाद, भगवान् की लीलाएँ मथुरा तथा द्वारका में स्थानान्तरित हो जाती हैं और वृन्दावनवासियों का असामान्य प्रेम भगवान् कृष्ण के कष्टमय विरह में लक्षित होता है। भगवान् की ऐसी लीलाएँ ईप्सित अर्थात् परम सत्य के साथ समस्त प्रेम के विनिमय के आगार हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त अत्यन्त बुद्धिमान तथा निपुण होते हैं और वे ऐसे व्यर्थ तथा निकृष्ट ग्रंथों पर ध्यान ही नहीं देते, जो सर्वोच्च सत्य भगवान् कृष्ण की उपेक्षा करते हैं। यद्यपि ऐसे ग्रंथ सारे संसार में भौतिकतावादी व्यक्तियों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हैं, किन्तु शुद्ध वैष्णव समुदाय द्वारा वे पूर्णतया उपेक्षित हैं। इस श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि भक्तों के लिए जिन ग्रंथों की संस्तुति की गई है वे ऐसे होते हैं, जो भगवान् की लीलाओं का गुणगान पुरुष-अवतार तथा लीलावतारों के रूप में करते हैं और इनका अन्त भगवान् कृष्ण के साक्षात् प्राकट्य में होता है, जिसकी पुष्टि ब्रह्म-संहिता (५.३९) में हुई है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्

नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु ।

कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो साक्षात् कृष्ण के रूप में तथा राम, नृसिंह, वामन आदि विभिन्न अवतारों के रूप में संसार में प्रकट हुए।”

यहाँ तक कि जो वैदिक ग्रंथ भगवान् की उपेक्षा करते हों, उनकी भी उपेक्षा करनी चाहिए। जब वेदों के रचयिता वेदव्यास अपनी कृति से असन्तुष्ट हो रहे थे, तो यही बात नारद मुनि ने व्यासदेव को समझाई थी।

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि ।

उपारमेत विरजं मनो मय्यर्ष्य सर्वगे ॥ २१ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस तरह ( जैसाकि मैंने अभी कहा ); जिज्ञासया—वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा; अपोह्य—त्याग कर; नानात्व—विविधता के; भ्रमम्—घूमने की त्रुटि; आत्मनि—अपने में; उपारमेत—भौतिक जीवन समाप्त कर देना चाहिए; विरजम्—शुद्ध; मनः—मन; मयि—मुझमें; अर्ष्य—स्थिर करके; सर्व-गे—सर्वव्यापी में।

समस्त ज्ञान के निष्कर्ष रूप में मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक विविधता की मिथ्या धारणा को त्याग दे, जिसे वह आत्मा पर थोपता है और इस तरह अपने भौतिक अस्तित्व को समाप्त कर दे। चूँकि मैं सर्वव्यापी हूँ, इसलिए मुझ पर मन को स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि पिछले श्लोकों में भगवान् ने उन निर्विशेष दार्शनिकों की जीवन-शैली तथा पहुँच का वर्णन किया है, जो पदार्थ और आत्मा के अन्तर पर ध्यान करते हैं, किन्तु यहाँ पर वे ज्ञान के पथ का बहिष्कार करते हैं और अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जो कि भक्तियोग है। ज्ञान-मार्ग उसे ही भाता है, जो यह नहीं जानता कि कृष्ण ही भगवान् है, जैसाकि भगवद्गीता (७.१९) में कहा गया है—

*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।*

*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥*

वासुदेवः सर्वमिति अर्थात् वासुदेव ही सर्वस्व हैं—यह पद इसी श्लोक में आए सर्वगे जैसा ही है। मनुष्य को जानना चाहिए कि भगवान् क्यों सर्वव्यापी हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में कहा गया है—जन्माद्यस्य यतः—भगवान् हर वस्तुके स्रोत हैं। जैसाकि इस अध्याय के पिछले श्लोक में कहा गया है, वे हर वस्तु का सृजन, पालन तथा संहार करने वाले हैं। इस प्रकार भगवान् वायु या सूर्य-प्रकाश की तरह सर्वव्यापक नहीं हैं, प्रत्युत वे परम नियन्ता के रूप में सर्वव्याप्त होते हैं, जो हर जीव के भाग्य को अपने हाथों में रखते हैं।

अन्ततोगत्वा हर वस्तु कृष्ण का अंश है, अतएव कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई आराध्य वस्तु नहीं है। अन्य किसी वस्तु का चिन्तन भी कृष्ण का चिन्तन है, किन्तु वह अपूर्ण रहता है, जैसाकि अविधिपूर्वकम् शब्द द्वारा भगवद्गीता में पुष्टि हुई है। गीता में भगवान् कृष्ण यह भी कहते हैं कि सारे जीव भगवद्भ्राम जाने के मार्ग पर हैं। किन्तु अज्ञान के कारण उनमें से कुछ मूर्खतावश यह सोचकर रास्ते में रुक जाते हैं या पीछे चले आते हैं कि उनकी यात्रा समाप्त हो गई है, जबकि वास्तव में वे भगवान् की किसी लघु-शक्ति में लटके रह जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति परम सत्य के स्वभाव को ठीक से जानना चाहता है, तो उसे भगवत्प्रेम का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि भगवद्गीता (१८.५५) में कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

“केवल भक्ति से मुझ भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। जब मनुष्य ऐसी भक्ति से परम पुरुष के पूर्ण भावनामृत में होता है, तो वह वैकुण्ठ जगत में प्रवेश कर सकता है।”

इस श्लोक में नानात्व-भ्रमम् स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शरीरों से झूठी पहचान का सूचक है। भ्रमम् शब्द भूल को बताने वाला है। इसका अर्थ भ्रमण या चक्कर लगाना भी हो सकता है। बद्धजीव मोह में गिरने की भूल से भौतिक शरीरों की एक शृंखला में लगातार घूमता रहता है—कभी देवता-रूप में, तो कभी मल के कीट-रूप में प्रकट होता है। उपारमेत् शब्द का अर्थ है कि मनुष्य को इस तरह निरर्थक भटकना बन्द करके अपने मन को परम सत्य पर टिकाना चाहिए, जो हर एक के प्रेम के वास्तविक लक्ष्य हैं। ऐसा निष्कर्ष भावनात्मक नहीं, अपितु वैश्लेषिक बुद्धि ( जिज्ञासया ) का फल है। इस तरह उद्धव से जिज्ञासा के अनेक पहलुओं की व्याख्या करने के बाद अब कृष्ण शुद्ध भगवत्प्रेम अर्थात् कृष्णभावनामृत के अन्तिम निष्कर्ष पर आते हैं। ऐसे प्रेम के बिना भगवान् पर मन को नित्य रूप में स्थिर करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

विवेक से उद्धरण देते हुए श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि नानात्वभ्रमम् निम्नलिखित मोहों का सूचक है—जीवात्मा को परम मानना, सारे जीवों को बिना पृथक् अस्तित्व के एक जीव मानना, अनेक ईश्वरों का होना, कृष्ण को ईश्वर न मानना, ब्रह्माण्ड को परम सत्य मानना। ये सभी भ्रम या त्रुटियाँ कहलाते हैं, किन्तु ऐसे अज्ञान को कृष्ण-नाम कीर्तन द्वारा तुरन्त समाप्त किया जा सकता है : हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।

मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥ २२ ॥

#### शब्दार्थ

यदि—यदि; अनीशः—असमर्थ; धारयितुम्—स्थिर करने के लिए; मनः—मन; ब्रह्मणि—आध्यात्मिक पद पर; निश्चलम्—इन्द्रियतृप्ति से मुक्त; मयि—मुझमें; सर्वाणि—समस्त; कर्माणि—कर्म; निरपेक्षः—फल भोगने का प्रयास किये बिना; समाचर—सम्पन्न करो।

हे उद्धव, यदि तुम अपने मन को समस्त भौतिक उहापोहों से मुक्त नहीं कर सकते और इसे आध्यात्मिक पद पर पूर्णतया लीन नहीं कर सकते, तो अपने सारे कार्यों को, उनका फल भोगने का प्रयास किये बिना, मुझे अर्पित भेंट के रूप में सम्पन्न करो।

**तात्पर्य :** यदि कोई व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोगने का प्रयास किये बिना उन्हें भगवान् कृष्ण को अर्पित करता है, तो उसका मन शुद्ध बन जाता है। जब मन शुद्ध हो जाता है, तो दिव्य ज्ञान स्वयमेव प्रकट होता है, क्योंकि ऐसा ज्ञान शुद्ध चेतना का गौण फल है। जब मन पूर्ण ज्ञान में लीन होता है, तो उसे आध्यात्मिक पद तक उठाया जा सकता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में वर्णन हुआ है—

*ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।*

*समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥*

“इस प्रकार जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त परब्रह्म का अनुभव करता है। वह कभी न तो शोक करता है, न किसी वस्तु की कामना करता है। वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति को प्राप्त करता है।”

भगवान् कृष्ण के दिव्य रूप में मन को लीन करके मनुष्य सामान्य दिव्य ज्ञान की अवस्था को पार कर सकता है, जिससे वह अपने को स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से पृथक् समझता है। भगवान् की प्रेमा भक्ति द्वारा आध्यात्मिक रूप से पुष्ट होकर, मन मोह के सारे कलुषों से पूरी तरह विमल हो जाता है। इस तरह भगवान् के साथ गहन एकाग्रता से सम्बद्ध होकर मनुष्य ज्ञान के सर्वोच्च मानक को प्राप्त करता है और भगवान् का घनिष्ठ संगी बन जाता है।

भगवान् को अपने कर्म समर्पित करने से मनुष्य कुछ हद तक अपने मन को शुद्ध बनाता है और इस तरह आध्यात्मिक सजगता की प्रारम्भिक अवस्था को प्राप्त करता है। इतने पर भी वह अपने मन को पूरी तरह आध्यात्मिक पद पर स्थिर करने में समर्थ नहीं भी हो सकता है। यहाँ तक पहुँच कर मनुष्य मन के भीतर छिपे हुए कल्मष को देख कर अपनी स्थिति का मूल्यांकन करे। तब इस श्लोक में बतायी गई विधि से अपने भक्ति-कार्यों को भगवान् की सेवा में लगाये। यदि वह अपने को कृत्रिम रूप

से परम मुक्त मानता है अथवा आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर कारणस्वरूप होता है, तो नीचे गिरने का गंभीर खतरा है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् ने उद्धव को इसके पूर्व *ज्ञानमिश्रा भक्ति* की व्याख्या की। इस श्लोक में वे स्पष्ट बतलाते हैं कि दिव्य ज्ञान भगवद्भक्ति का स्वतः गौण उत्पाद है। अगले श्लोक में वे शुद्ध भक्ति की व्याख्या आरम्भ करते हैं, जो आत्म-साक्षात्कार के लिए पर्याप्त है। आध्यात्मिक ज्ञान की भोगेच्छा भौतिक इच्छा है, क्योंकि इसका उद्देश्य निजी तुष्टि होता है, न कि भगवान् का आनन्द। इसलिए भगवान् कृष्ण उद्धव को सावधान करते हैं कि यदि कोई व्यक्ति समाधि में अपने मन को आध्यात्मिक पद पर एकाग्र नहीं कर पाता, तो उसे ब्रह्म क्या है और क्या ब्रह्म नहीं है ऐसे सैद्धान्तिक वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। प्रत्युत उसे भगवद्भक्ति में लगे रहना चाहिए और तब आध्यात्मिक ज्ञान स्वतः ही हृदय में उत्पन्न होगा। *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—

*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।*

*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥*

“जो प्रेमपूर्वक मेरी भक्ति और उपासना करने में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं।”

इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कंध में ब्रह्माजी सावधान करते हैं कि भक्ति के शुभ मार्ग की उपेक्षा करके मानसिक चिन्तन का व्यर्थ श्रम नहीं करना चाहिए। मात्र दार्शनिक चिन्तन से आध्यात्मिक पद पर मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता। इतिहास ऐसे अनेक महान् दार्शनिकों से परिपूर्ण है जिनकी निजी आदतें कुत्सित थीं, जिससे सिद्ध होता है कि मात्र दार्शनिक चिन्तन से वे अपने को आध्यात्मिक पद पर स्थिर नहीं रख सके। यदि किसी व्यक्ति को विगत जीवन में भगवद्भक्ति का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और वह पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर पर ही चिन्तन करने में लगा रहता है, तो वह आध्यात्मिक पद पर अपने मन को स्थिर नहीं रख पायेगा। ऐसे व्यक्ति को व्यर्थ चिन्तन का परित्याग करके चौबीसों घण्टे भगवान् के मिशन में लीन रहकर कृष्णभावनामृत के व्यावहारिक कार्य में लग जाना चाहिए। भगवान् के ऐसे मिशन-कार्य में लगने पर उसे अपने कर्मफल को भोगने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्मफल भगवान् को अर्पित करे, तो उसका मन

पूर्णतया शुद्ध न रहने पर भी शुद्ध निष्काम पद को प्राप्त हो जायेगा, जिसमें उसकी एकमात्र इच्छा भगवान् की तुष्टि ही होती है।

श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि यदि किसी को भगवान् के साकार रूप तथा कार्यकलापों में श्रद्धा नहीं होती, तो उसमें दिव्य पद पर निरन्तर बने रहने का आध्यात्मिक बल नहीं होगा। इस श्लोक में उद्धव तथा अन्य सारे जीवों को भगवान् समस्त दर्शन के निष्कर्ष पर लाते हैं, जो कि कृष्ण की शुद्ध भक्ति है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि जो व्यक्ति मिथ्या अहंकार से मोहग्रस्त रहता है, हो सकता है कि वह अपने कर्म भगवान् को अर्पित न करना चाहे, यद्यपि प्रकृति के गुणों से ऊपर उठने का यह वास्तविक ढंग है। अपने अज्ञान के कारण वह यह नहीं जानता कि वह कृष्ण का नित्य दास है, अपितु वह भौतिक मोह के द्वंद्व के प्रति आकृष्ट होता है। कोई व्यक्ति सैद्धान्तिक चिन्तन से ऐसे मोह से छूट नहीं सकता, किन्तु यदि वह अपने कर्म भगवान् को अर्पित करता है, तो वह भगवान् के नित्य दास के रूप में अपनी नित्य दिव्य स्थिति को स्पष्टतया समझ सकेगा।

श्रद्धालुर्मत्कथाः शृण्वन्सुभद्रा लोकपावनीः ।

गायन्ननुस्मरन्कर्म जन्म चाभिनयन्मुहुः ॥ २३ ॥

मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन्मदपाश्रयः ।

लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

श्रद्धालुः—श्रद्धावान् व्यक्ति; मत्-कथाः—मेरी कथाएँ; शृण्वन्—सुनते हुए; सु-भद्राः—सर्वमंगलमय; लोक—सारे जगत को; पावनीः—पवित्र बनाते हुए; गायन्—गाना; अनुस्मरन्—निरन्तर स्मरण करना; कर्म—मेरे कार्य; जन्म—मेरा जन्म; च—भी; अभिनयन्—नाटक करके.; मुहुः—पुनः पुनः; मत्-अर्थे—मेरे आनन्द के लिए; धर्म—धार्मिक कार्य; काम—इन्द्रिय-कर्म; अर्थान्—तथा व्यापारिक कार्य; आचरन्—सम्पन्न करते हुए; मत्—मुझमें; अपाश्रयः—आश्रय बनाकर; लभते—प्राप्त करता है; निश्चलाम्—अटल; भक्तिम्—भक्ति; मयि—मुझमें; उद्धव—हे उद्धव; सनातने—मेरे सनातन रूप।

हे उद्धव, मेरी लीलाओं तथा गुणों की कथाएँ सर्वमंगलमय हैं और समस्त ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाली हैं। जो श्रद्धालु व्यक्ति ऐसी दिव्य लीलाओं को निरन्तर सुनता है, उनका गुणगान करता है तथा उनका स्मरण करता है और मेरे प्राकट्य से लेकर सारी लीलाओं का



अभिनय करता है, तथा मेरी तुष्टि के लिए अपने धार्मिक, ऐन्द्रिय तथा वृत्तिपरक कार्यों को मुझे अर्पित करता है, वह निश्चय ही मेरी अविचल भक्ति प्राप्त करता है।

**तात्पर्य :** जिन लोगों की श्रद्धा केवल भगवान् के निर्विशेष तेजोमय पक्ष में होती है और जो लोग उन अन्तर्यामी परमात्मा में ही श्रद्धा रखते हैं, जो प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित, योगिक ध्यान के लिए पूर्ण हैं, उनका साक्षात्कार सीमित तथा अपूर्ण माना जाता है। योगिक ध्यान तथा निर्विशेष दार्शनिक चिन्तन दोनों ही वास्तविक भगवत्प्रेम से रहित हैं, अतएव इन्हें मनुष्य-जीवन की सिद्धि नहीं माना जा सकता। जो व्यक्ति भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखता है, वही भगवद्धाम जाने का पात्र है।

प्रोढ़-वय गोपियों से मक्खन चुराना, ग्वालबालों तथा तरुण गोपियों के साथ जीवन का आनन्द लूटना, वंशी बजाना तथा रास-नृत्य करना इत्यादि कृष्ण की लीलाएँ सर्वमंगलदायक आध्यात्मिक कार्य हैं, जिनका विस्तृत वर्णन इसी ग्रंथ के दसवें स्कंध में हुआ है। भगवान् की इन लीलाओं की महिमा का वर्णन करने वाले अनेक प्रामाणिक गीत तथा प्रार्थनाएँ हैं, जिनका निरन्तर कीर्तन करने से मनुष्य स्वतः स्मरणम् को प्राप्त होता है। भगवान् ने अपना ऐश्वर्य अपने जन्म के समय कंस के कारागार में तथा बाद में नन्द महाराज द्वारा गोकुल में मनाये गये जन्मोत्सव के समय प्रकट किया। इसके बाद भगवान् ने अनेक साहसिक कार्य किये—यथा कालिय सर्प तथा अनेक अविवेकी असुरों को दण्ड देना। मनुष्य को कृष्ण के लीलोत्सवों में यथा जन्माष्टमी उत्सव में नियमपूर्वक भाग लेना चाहिए। ऐसे अवसरों पर कृष्ण के अर्चाविग्रह तथा गुरु की पूजा करनी चाहिए और इस प्रकार प्रभु की लीलाओं का स्मरण करना चाहिए।

इस श्लोक में धर्म शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को कृष्ण से सम्बन्धित धार्मिक कृत्य करने चाहिए। इसलिए उसे वैष्णवों तथा ब्राह्मणों को अन्न, वस्त्र इत्यादि के रूप में दान देना चाहिए और जब भी सम्भव हो सके, तो गौवों की रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। काम शब्द बताता है कि मनुष्य को भगवान् के दिव्य साज-सामान से अपनी इच्छाएँ पूरी करनी चाहिए। उसे महाप्रसाद खाना चाहिए और भगवान् की फूल-मालाओं, तथा चन्दन-लेप से अपने को सजाना चाहिए तथा अर्चाविग्रह के उतारे गये वस्त्र धारण करने चाहिए। जो व्यक्ति विलासमय महल में रह रहा हो, उसे उस महल को भगवान् का मन्दिर बनाकर, उसमें अन्य लोगों को आमंत्रित करके अर्चाविग्रह के

सामने कीर्तन करना और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सुनना चाहिए और भगवान् के भोजन का जूठन खाना चाहिए। अथवा उसे वैष्णव-समुदाय के साथ सुन्दर मन्दिर में रहकर ऐसे कार्यों में लगे रहना चाहिए। इस श्लोक में *अर्थ* शब्द यह सूचित करता है कि जो व्यक्ति व्यापार के प्रति झुकाव रखता हो, उसे भगवद्भक्तों के प्रचार-कार्य को बढ़ावा देने के लिए धन एकत्र करना चाहिए, अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। इस तरह मनुष्य के वृत्तिपरक कार्य भी कृष्ण की भक्ति माने जायेंगे। *निश्चलाम्* शब्द बताता है कि चूँकि भगवान् कृष्ण शाश्वत रूप से पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द को प्राप्त रहते हैं, अतः उनकी पूजा करने वाले को किसी उत्पात की सम्भावना नहीं रहती। यदि हम भगवान् को छोड़कर अन्य किसी की पूजा करते हैं, तो पूज्य अर्चाविग्रह पर किसी अशोभनीय स्थिति आ पड़ने पर हमारी पूजा विचलित हो सकती है। किन्तु भगवान् तो सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव उनकी पूजा समस्त उत्पातों से मुक्त है।

जो व्यक्ति भगवान् की लीलाओं के श्रवण, गायन, स्मरण तथा अभिनय में अपने को लगाता है, वह तुरन्त ही सारी भौतिक इच्छा से मुक्त हो जाएगा। इस सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में बढ़ा-चढ़ा रहता है, वह वैकुण्ठ-लोक में भगवान् की किसी विशिष्ट रूप से सेवा में लगे किसी भक्त की लीलाओं के प्रति आकृष्ट हो सकता है। इस जगत में बढ़ा-चढ़ा भक्त भगवान् की वैसी ही सेवा करने की इच्छा कर सकता है और वह अपने पूज्य भक्त-गुरु की सेवा का अभिनय कर सकता है। यही नहीं, वह उत्सवों, भगवान् कृष्ण की लीला-विशेष को करने या भगवान् के अन्य भक्तों के कार्यों को करने में रुचि ले सकता है। इस तरह वह भगवान् के प्रति अपनी श्रद्धा में निरन्तर वृद्धि कर सकता है। जिन लोगों को भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को सुनने, उनका गायन करने या स्मरण करने की इच्छा नहीं होती, वे निश्चित रूप से कल्मषग्रस्त होते हैं और कभी भी सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाते। ऐसे लोग छोटी-छोटी सांसारिक बातों में जिनसे कोई शाश्वत लाभ नहीं होता, अपने को उलझा कर मनुष्य-जीवन के सुअवसर को नष्ट कर देते हैं। धर्म का असली अर्थ है सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् की निरन्तर सेवा करना। जिसने भगवान् की पूर्ण शरणागति स्वीकार कर ली है, वह ईश्वर के निर्विशेषवादी चिन्तन में तनिक भी रुचि नहीं रखता और वह अपना समय भक्ति-कार्यों के असीम आनंद में अधिकाधिक बढ़ाने आगे में लगाता है।

सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ।  
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥ २५ ॥

### शब्दार्थ

सत्—भगवद्भक्तों की; सङ्ग—संगति से; लब्धया—प्राप्त की हुई; भक्त्या—भक्ति द्वारा; मयि—मुझमें; माम्—मेरा; सः—वह; उपासिता—उपासक; सः—वही व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; मे—मेरा; दर्शितम्—बताये गये; सद्भिः—मेरे शुद्ध भक्तों द्वारा; अञ्जसा—आसानी से; विन्दते—प्राप्त करता है; पदम्—मेरे चरणकमल अथवा मेरा नित्य धाम ।

जिसने मेरे भक्तों की संगति से शुद्ध भक्ति प्राप्त कर ली है, वह निरन्तर मेरी पूजा में लगा रहता है। इस तरह वह आसानी से मेरे धाम को जाता है, जिसे मेरे शुद्ध भक्तगणों द्वारा प्रकट किया जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने अपनी प्रेमाभक्ति में समर्पण करने के महत्त्व पर बल दिया। कोई यह पूछ सकता है कि ऐसा समर्पण या भक्ति कैसे प्राप्त की जाती है? भगवान् इस श्लोक में इसी का उत्तर देते हैं। मनुष्य को भक्तों की संगति में रहना चाहिए। इस तरह वह स्वतः ही श्रवणम् कीर्तनम् तथा स्मरणम् जैसी भक्ति-विधियों में चौबीसों घण्टे लगा रहेगा। भगवान् के शुद्ध भक्त अपनी दिव्य ध्वनि से वैकुण्ठ को व्यक्त कर सकते हैं, जिससे नवदीक्षित भक्त भी भगवान् के धाम का अनुभव कर सकता है। इस प्रकार प्रोत्साहित होकर नवदीक्षित आगे प्रगति करते हुए स्वयं वैकुण्ठ में भगवान् की सेवा करने के योग्य बन सकता है। भक्तों की निरन्तर संगति करने तथा उनसे भक्तियोग के विषय में सीखने से मनुष्य को भगवान् में तथा भगवत्सेवा में प्रगाढ़ आसक्ति हो जाती है और ऐसी आसक्ति क्रमशः शुद्ध भगवत्प्रेम में बदल जाती है।

मूर्ख लोग कहते हैं कि ईश्वर के नामों से युक्त विविध मंत्र तथा अन्य सारे मंत्र महत्त्वरहित हैं और निरी भौतिक कृतियाँ हैं, इसलिए तथाकथित मंत्र या योग-विधि से अन्त में वही परिणाम प्राप्त होगा। ऐसी ओछी विचारधारा का खण्डन करने के उद्देश्य से ही भगवान् ने यहाँ पर भगवद्धाम वापस जाने के विज्ञान का वर्णन किया है। मनुष्य को निर्विशेषवादियों की बुरी संगति स्वीकार नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनका कहना है कि भगवान् के नाम, रूप, गुण तथा लीलाएँ माया हैं। वास्तव में माया सर्वशक्तिमान भगवान् की तुच्छ शक्ति है और यदि कोई बेसमझी में माया को परम सत्य से ऊपर उठाना चाहता है, तो उसे कभी भी ईश्वर-प्रेम का अनुभव नहीं होगा और वह भगवान् की गहन विस्मृति में डाल दिया जायेगा। मनुष्य को उन लोगों की संगति नहीं करनी चाहिए, जो भगवद्धाम जाने वाले

भाग्यशाली भक्तों से ईर्ष्या करते हैं। ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्ति उस भगवद्धाम का उपहास करते हैं, जिसका उद्घाटन शुद्ध भक्तों द्वारा उन लोगों को किया जाता है, जिन्हें भगवान् के सन्देश में श्रद्धा होती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति ऐसी आम जनता में उत्पात मचाते हैं, जिन्हें भगवान् के श्रद्धालु भक्तों की शरण लेनी होती है। जब तक आम जनता शुद्ध भक्तों से नहीं सुनेगी, तब तक वह यह नहीं समझ पायेगी कि कोई भगवान् हैं, जो अपने धाम में नित्य स्थित रहते हैं, जो स्व-तेजोमय, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण हैं। इस श्लोक में सङ्ग की महत्ता को पूरी तरह समझाया गया है।

श्रीउद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो ।

भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिराहता ॥ २६ ॥

एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो ।

प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; साधुः—सन्त-पुरुष; तव—तुम्हारा; उत्तम-श्लोक—हे प्रभु; मतः—विचार; कीदृक्-विधः—वह किस तरह का होगा; प्रभो—हे भगवान्; भक्तिः—भक्ति; त्वयि—तुममें; उपयुज्येत—सम्पन्न करने योग्य है; कीदृशी—किसी तरह की है; सद्भिः—आपके शुद्ध भक्तों, यथा नारद द्वारा; आहता—समादरित; एतत्—यह; मे—मुझसे; पुरुष-अध्यक्ष—हे विश्व-नियन्ताओं के शासक; लोक-अध्यक्ष—हे वैकुण्ठ के स्वामी; जगत्-प्रभो—हे ब्रह्माण्ड के ईश्वर; प्रणताय—आपके शरणागतों के; अनुरक्ताय—अनुरक्त; प्रपन्नाय—जिनके आपके अलावा कोई अन्य आश्रय नहीं है; च—भी; कथ्यताम्—कहें।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, हे भगवान्, आप किस तरह के व्यक्ति को सच्चा भक्त मानते हैं और आपके भक्तों द्वारा किस तरह की भक्ति समर्थित है, जो आपको अर्पित की जा सके? हे ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं के शासक, हे वैकुण्ठ-पति तथा ब्रह्माण्ड के सर्वशक्तिमान ईश्वर, मैं आपका भक्त हूँ और चूँकि मैं आपसे प्रेम करता हूँ, इसलिए आपको छोड़ कर मेरा अन्य कोई आश्रय नहीं है। अतएव कृपा करके आप इसे मुझे समझायें।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया था कि भक्तों की संगति से मनुष्य भगवान् के परम धाम को पा सकता है। इसलिए स्वाभाविक है कि उद्धव उस विशिष्ट भक्त के लक्षणों के बारे में पूछताछ करे, जिसकी संगति से भगवद्धाम जाया जा सके। श्रील जीव गोस्वामी लिखते हैं कि भगवान् जानते हैं कि वास्तव में कौन निष्ठावान भक्त है, क्योंकि भगवान् अपने प्रेमी-सेवकों पर सदैव अनुरक्त रहते हैं। इसी तरह शुद्ध भक्तगण भगवान् कृष्ण की भक्ति की उचित विधियाँ बता सकते हैं, क्योंकि वे पहले से

कृष्ण-प्रेम में निमग्न रहते हैं। यहाँ पर उद्धव भगवान् से अनुरोध करते हैं कि वे भक्त के गणों का वर्णन करें तथा उस भक्ति को बतलायें, जो भगवान् को अर्पित करने योग्य हो और जिसकी स्वीकृति भक्तगण स्वयं देते हों।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि पुरुषाध्यक्ष शब्द यह बतलाता है कि भगवान् कृष्ण महाविष्णु इत्यादि ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं के परम शासक हैं और इसलिए अनन्त सत्ता रखते हैं। लोकाध्यक्ष शब्द सूचित करता है कि कृष्ण समस्त वैकुण्ठ-लोकों के परम अध्यक्ष हैं, अतएव वे असीम यशस्वी तथा पूर्ण हैं। उद्धव कृष्ण को जगत्प्रभु कह कर भी सम्बोधित करते हैं, क्योंकि वे इस मायामय भौतिक जगत में भी बद्धजीवों को उबारने के लिए स्वयं अवतार लेकर अपनी असीम कृपा प्रदर्शित करते हैं। प्रणताय शब्द बतलाता है कि उद्धव सामान्य मूर्खों जैसे घमंडी नहीं हैं, जो भगवान् के समक्ष नतमस्तक होकर आनन्दित नहीं होते। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव बतलाते हैं कि वे अनुरक्ताय हैं अर्थात् कृष्ण के प्रेम में पूर्णरूपेण बँधे हैं, क्योंकि उद्धव अर्जुन जैसे अन्य महान् भक्तों के समान नहीं हैं, जो सामाजिक प्रथाओं को पूरा करने या ग्रह-व्यवस्था की योजना में उनके स्थानों के लिए आदर प्रदर्शित करने के लिए कभी कभी देवताओं को पूजते हैं। उद्धव ने कभी भी किसी देवता की पूजा नहीं की। इसलिए उद्धव प्रपन्नाय हैं अर्थात् एकमात्र कृष्ण के शरणागत हैं।

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः ।

अवतीर्णोऽसि भगवन्स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥ २८ ॥

#### शब्दार्थ

त्वम्—तुम; ब्रह्म परमम्—परब्रह्म; व्योम—आकाश की तरह ( हर वस्तु से पृथक् ); पुरुषः—भगवान्; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; परः—दिव्य; अवतीर्णः—अवतार लिया; असि—हो; भगवन्—प्रभु; स्व—अपने ( भक्तों ); इच्छा—इच्छा के अनुसार; उपात्त—स्वीकार किया; पृथक्—भिन्न; वपुः—शरीर।

हे प्रभु, परब्रह्म-रूप में आप प्रकृति से परे हैं और आकाश की तरह किसी तरह से बद्ध नहीं हैं। तो भी, अपने भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर आप अनेक प्रकार के रूपों में प्रकट होते हैं और अपने भक्तों की इच्छानुसार अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त सारे संसार में भक्ति का प्रसार करते हैं, अतएव वे ईश्वर के साकार रूप से पृथक् होकर भी ईश्वर की कृपा तथा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ माने जाते हैं। चैतन्य-चरितामृत (अन्त्य ७.११) में कहा गया है : कृष्णशक्ति विना नहे तार प्रवर्तन।

भगवान् आकाश ( व्योम ) के समान हैं, क्योंकि सर्वत्र विस्तृत होकर भी वे किसी वस्तु से बद्ध नहीं हैं। वे प्रकृतेः परः हैं अर्थात् भौतिक प्रकृति से पूर्णतः परे हैं। भगवान् आत्माराम हैं, अतएव वे भौतिक जगत के मामलों से उदासीन रहते हैं। फिर भी, अपनी अहैतुकी कृपा के कारण भगवान् अपनी शुद्ध भक्ति का विस्तार करना चाहते हैं और इसी हेतु वे पतित बद्धात्माओं को ऊपर उठाने के लिए इस भौतिक जगत में अवतीर्ण होते हैं।

भगवान् अपने प्रिय भक्तों को प्रसन्न करने के लिए चुने हुए दिव्य शरीरों में अवतरित होते हैं। कभी कभी वे अपने आदि-रूप, कृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं। यहाँ तक कि कृष्ण भी विशेष भक्तों के लिए विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं, जिससे ये भक्त उनके प्रति पूर्ण प्रेमभाव उत्पन्न कर सकें। श्रील जीव गोस्वामी भगवान् द्वारा अपने भक्तों पर दिखाई जाने वाली कृपा के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण स्वयं जाम्बवान् के घर गये और अपना कुछ-कुछ क्रुद्ध रूप दिखलाया। इस रूप में भगवान् ने अपने भक्त से युद्ध का आनन्द लूटा; अत्रि मुनि को दत्तात्रेय के रूप में अपना स्वरूप दिखलाया। इसी तरह उन्होंने ब्रह्मा पर, देवताओं, अक्रूर तथा अन्य असंख्य भक्तों पर विशेष कृपा की। वृन्दावन में उन्होंने गोविन्द के रूप में वहाँ के निवासियों को अपना सुन्दरतम रूप दिखलाया।

श्रील मध्वाचार्य ने प्रकाश संहिता से निम्नलिखित उद्धरण दिया है : “भगवान् अपने भक्तों की इच्छानुसार विभिन्न आध्यात्मिक शरीर धारण करते हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने वसुदेव तथा देवकी का पुत्र बनना स्वीकार किया। इस तरह नित्य आनन्दमय दिव्य रूप होने पर भी कृष्ण उस भक्त के शरीर में प्रवेश करते प्रतीत होते हैं, जो उनकी माता बनती है। यद्यपि हम यह कहते हैं कि भगवान् ने ‘शरीर धारण किया’, किन्तु वे उन बद्धजीवों की तरह अपना रूप नहीं बदलते, जिन्हें अपने शरीर बदलने पड़ते हैं। भगवान् अपने नित्य अपरिवर्तनीय रूपों में प्रकट होते हैं। भगवान् हरि सदैव उन्हीं रूपों में प्रकट होते हैं, जो उनके भक्त चाहते हैं। वे कभी भी अन्य रूपों में प्रकट नहीं होते। किन्तु यदि कोई यह सोचता है कि भगवान् सामान्य पुरुषों की तरह जन्म लेकर वसुदेव या अन्य भक्तों के सशरीर पुत्र बनते हैं, तो उसे मोह का शिकार समझना चाहिए। भगवान् अपनी आध्यात्मिक शक्ति का विस्तार ही करते हैं, जिससे उनके भक्त सोचते हैं कि “कृष्ण अब मेरे पुत्र हैं।” मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् न तो कोई शरीर ग्रहण करते हैं, न उसका परित्याग करते हैं, न ही वे अपने नित्य

आध्यात्मिक रूपों को कभी त्यागते हैं, प्रत्युत वे अपने नित्य शुद्ध भक्तों की प्रेममयी अनुभूतियों के अनुसार अपना आनन्दमय शरीर प्रकट करते हैं।”

श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि व्योम शब्द भगवान् के नाम परव्योम का भी सूचक है। इस श्लोक का गलत अर्थ लगाकर यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् कृष्ण भौतिक आकाश की तरह निर्विशेष हैं या यह कि कृष्ण का रूप अन्य किसी चुने हुए अवतार के समकक्ष है। ऐसे आकस्मिक तथा मनमाने विचारों को आध्यात्मिक ज्ञान नहीं माना जा सकता। श्रीकृष्ण तो आदि भगवान् हैं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्)। भगवान् ने भगवद्गीता में विस्तार से बतलाया है कि वे हर वस्तु के आदि स्रोत हैं। इसलिए भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् के आदि रूप कृष्ण की प्रेममयी सेवा में पूर्ण ज्ञान और आनन्द में नित्य लगे रहते हैं। श्रीमद्भागवत का सारा अभिप्राय कृष्ण के प्रति हमारे प्रेम को जागृत करना है। किसी को मूर्खतावश इस अभिप्राय को अन्यथा नहीं समझना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।  
 सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥ २९ ॥  
 कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।  
 अनीहो मितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥ ३० ॥  
 अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।  
 अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥ ३१ ॥  
 आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।  
 धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स तु सत्तमः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कृपालुः—अन्यों के कष्ट को सहन न कर सकने वाले; अकृत-द्रोहः—अन्यों को हानि न पहुँचाने वाले; तितिक्षुः—क्षमा करने वाले; सर्व-देहिनाम्—सारे जीवों को; सत्य-सारः—सत्य पर जीवित रहने वाले तथा सत्य से ही दृढ़ता प्राप्त करने वाले; अनवद्य-आत्मा—ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त आत्मा; समः—सुख-दुख में समान चेतना वाला; सर्व-उपकारकः—अन्यों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील; कामैः—भौतिक इच्छाओं द्वारा; अहत—अविचल; धीः—बुद्धि वाले; दान्तः—बाह्य इन्द्रियों को वश में करने वाले; मृदुः—कठोर मनोवृत्ति से रहित; शुचिः—अच्छे व्यवहार वाला; अकिञ्चनः—किसी भी सम्पत्ति से विहीन; अनीहः—सांसारिक कार्यकलापों से मुक्त; मित-भुक्—संयम से खानेवाला; शान्तः—मन को वश में रखने वाला; स्थिरः—अपने नियत कार्य में दृढ़ रहने वाला; मत्-शरणः—मुझे ही एकमात्र शरण स्वीकार करने वाला; मुनिः—विचारवान; अप्रमत्तः—सतर्क; गभीर-आत्मा—दिखाऊ न होने के कारण अपरिवर्तित; धृति-मान्—विपत्ति के समय भी दुर्बल या दुखी न होने वाला; जित—विजय प्राप्त; षट्-गुणः—छः गुण, भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु; अमानी—प्रतिष्ठा की इच्छा से रहित; मान-दः—अन्यों का आदर करने वाला; कल्यः—अन्यों की कृष्णभावना को जगाने में पटु; मैत्रः—दूसरों को धोखा न देने वाला, अतः असली मित्र; कारुणिकः—निजी महत्त्वाकांक्षा से नहीं, अपितु करुणा के वशीभूत होकर कर्म करने वाला; कविः—पूर्ण विद्वान्; आज्ञाय—जानते हुए; एवम्—इस प्रकार; गुणान्—अच्छे गुणों; दोषान्—बुरे गुणों को; मया—मेरे द्वारा; आदिष्टान्—शिक्षा दिए गये; अपि—भी; स्वकान्—अपने ही; धर्मान्—धार्मिक

सिद्धान्तों को; सन्त्यज्य—त्याग कर; यः—जो; सर्वान्—समस्त; माम्—मुझको; भजेत—पूजता है; सः—वह; तु—निस्सन्देह; सत्-तमः—सन्त-पुरुषों में श्रेष्ठ।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, सन्त-पुरुष दयालु होता है और वह कभी दूसरों को हानि नहीं पहुँचाता। दूसरों के आक्रामक होने पर भी वह सहिष्णु होता है और सारे जीवों को क्षमा करने वाला होता है। उसकी शक्ति तथा जीवन की सार्थकता सत्य से मिलती है। वह समस्त ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त होता है और भौतिक सुख-दुख में उसका मन समभाव रहता है। इस तरह वह अन्य लोगों के कल्याण हेतु कार्य करने में अपना सारा समय लगाता है। उसकी बुद्धि भौतिक इच्छाओं से मोहग्रस्त नहीं होती और उसकी इन्द्रियाँ अपने वश में रहती हैं। उसका व्यवहार सदैव मधुर, मृदु तथा आदर्श होता है। वह स्वामित्व (संग्रह) भाव से मुक्त रहता है। वह कभी भी सामान्य सांसारिक कार्यकलापों के लिए प्रयास नहीं करता और भोजन में संयम बरतता है। इसलिए वह सदैव शान्त तथा स्थिर रहता है। सन्त-पुरुष विचारवान होता है और मुझे ही अपना एकमात्र आश्रय मानता है। ऐसा व्यक्ति अपने कर्तव्य-पालन में अत्यन्त सतर्क रहता है, उसमें कभी भी ऊपरी विकार नहीं आ पाते, क्योंकि दुखद परिस्थितियों में भी वह स्थिर तथा नेक बना रहता है। उसने भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु इन छह भौतिक गुणों पर विजय पा ली होती है। वह अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा से मुक्त होता है और अन्यो को आदर प्रदान करता है। वह अन्यो की कृष्ण-चेतना को जाग्रत करने में कुशल होता है, अतएव कभी किसी को ठगता नहीं। प्रत्युत वह सबों का शुभैषी मित्र होता है और अत्यन्त दयालु होता है। ऐसे सन्त-पुरुष को विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। वह भलीभाँति समझता है कि विविध शास्त्रों में मैंने, जो धार्मिक कर्तव्य नियत किये हैं, उनमें अनुकूल गुण रहते हैं जो उनके करने वालों को शुद्ध करते हैं और वह जानता है कि इन कर्तव्यों की उपेक्षा से जीवन में त्रुटि आती है। फिर भी, सन्त-पुरुष मेरे चरणकमलों की शरण ग्रहण करके सामान्य धार्मिक कार्यों को त्याग कर एकमात्र मेरी पूजा करता है। इस तरह वह जीवों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

तात्पर्य : २९वें से लेकर ३१वें श्लोक तक सन्त-पुरुष के २८ गुणों का वर्णन हुआ है और ३२वें श्लोक में जीवन की सर्वोच्च सिद्धि बतलाई गई है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार सत्रहवाँ गुण ( *मत्सरण* ) सबसे महत्त्वपूर्ण है। शेष सत्ताईस गुण शुद्ध भगवद्भक्त में स्वतः प्रकट होते



हैं। जैसाकि श्रीमद्भागवत (५.१८.१२) में कहा गया है—*यस्यास्ति भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।* अट्टाइस सन्त-गुणों का वर्णन निम्न प्रकार है—

(१) *कृपालु* : भक्त कभी भी संसार को अज्ञान में डूबे तथा माया के कोड़े खाते देख नहीं सकता, अतएव वह कृष्णभावनामृत वितरित करने में जुट जाता है और *कृपालु* या दयालु कहलाता है।

(२) *अकृत-द्रोह* : यदि कोई भक्त के प्रति आक्रामक बनता है, तो भी भक्त पलट कर आक्रमण नहीं करता। वह कभी भी किसी जीव के हित के विपरीत कार्य नहीं करता। यह तर्क किया जा सकता है कि महान् वैष्णव-राजाओं ने, यथा महाराज युधिष्ठिर तथा परीक्षित महाराज ने, अनेक अपराधियों को दण्डित किया। किन्तु जब राज्य द्वारा उचित रीति से न्याय किया जाता है, तो पापी विध्वंसकारी लोगों को वास्तव में उनके द्वारा दिये जाने वाले दण्ड से लाभ होता है, क्योंकि वे अपने अवैध कार्यों के घोर कर्मफल से मुक्त हो जाते हैं। वैष्णव शासक किसी ईर्ष्या-द्वेषवश दण्ड नहीं देता, अपितु ईश्वर के नियमों का ठीक से पालन करने के कारण देता है। मायावादी दार्शनिक, जो यह कल्पना करके ईश्वर को मार डालना चाहते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है, निश्चय ही *कृत-द्रोह* हैं अर्थात् अपने लिए तथा अन्यो के लिए अत्यन्त घातक हैं। निर्विशेषवादी यह कल्पना करता है कि वही सर्वोच्च है और इस तरह वह अपने लिए तथा अपने अनुयायियों के लिए अत्यन्त घातक स्थिति उत्पन्न कर लेता है। इसी तरह कर्मी भी, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं आत्महन्ता हैं, क्योंकि भौतिक चेतना में लीन होने से वे परम सत्य तथा अपनी आत्मा के सत्य का अनुभव करने का अवसर अपने हाथ से चले जाने देते हैं। अतएव सारे जीव, जो भौतिकतावादी विधानों तथा कर्तव्यों के वशीभूत रहते हैं, वे व्यर्थ ही अपने को तथा अन्यो को सताते रहते हैं। किन्तु शुद्ध वैष्णव उनके लिए अत्यधिक दया तथा चिन्ता का अनुभव करता है। भक्त कभी भी मनसा-वाचा-कर्मणा किसी जीव के कल्याण के प्रति कोई हानिकारक कर्म नहीं करता।

(३) *तितिक्षु* : भक्त अपने प्रति किये गये किसी भी अपराध को क्षमा कर देता है और भूल जाता है। वैष्णव अपने को मल-पुरीष से भरे भौतिक शरीर से विलग रखता है। इसलिए जब प्रचार-कार्य के दौरान भक्त के साथ कोई दुर्व्यवहार करता है, तो वह उसकी अनदेखी करके भद्रपुरुष की तरह लोगों

के साथ बर्ताव करता है। वैष्णव भगवन्नाम का ऊँची आवाज में कीर्तन करता है और उन पतित बद्धात्माओं को सहता तथा क्षमा करता है, जो शुद्ध भक्त के साथ ठीक से आदान-प्रदान नहीं कर पाते।

(४) *सत्य-सार* : भक्त सदैव स्मरण रखता है कि वह उन भगवान् का नित्य दास है, जो सर्वज्ञ, समस्त आनन्द के आगार तथा समस्त कर्मों के चरम भोक्ता हैं। भक्ति से बाहर कार्यों से दूर रहकर भक्त सत्य पर अटल रहता है, वह व्यर्थ समय नहीं गँवाता और वह निर्भीक, शक्तिशाली तथा स्थिर रहता है।

(५) *अनवद्यात्मा* : भक्त जानता है कि भौतिक जगत नश्वर मायाजाल है, अतएव वह कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करता। वह व्यर्थ ही किसी को क्षुब्ध करना अथवा किसी की आलोचना करना नहीं चाहता।

(६) *समः* : एक भक्त भौतिक सुख या दुःख, यश या अपयश में स्थिर तथा समभाव बनाये रखता है। उसका असली धन कृष्ण-चेतना होती है। वह समझता है कि उसका असली स्वार्थ भौतिक प्रकृति के दायरे से बाहर है। वह बाह्य घटनाओं से उत्तेजित या अवसन्न नहीं होता, अपितु कृष्ण की सर्वशक्ति सम्पन्न चेतना में स्थिर रहता है।

(७) *सर्वोपकारक* : अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की उपेक्षा करना और अन्यो की तुष्टि के लिए कार्य करना *परोपकार* कहलाता है, जबकि अपनी तृप्ति के लिए अन्यो को तंग करना *परापकार* कहलाता है। भक्त सदैव भगवान् कृष्ण के आनन्द हेतु कार्य करता है, जो सभी जीवों के आश्रय हैं। फलतः भक्त के कार्य अन्ततः हर एक को अच्छे लगते हैं। भगवान् कृष्ण के प्रति भक्ति करना कल्याण-कार्य की पूर्णावस्था है, क्योंकि कृष्ण ही हर एक के सुख-दुःख के परम नियन्ता हैं। मूर्ख लोग मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर अपने को अन्यो का परम हितैषी मान कर अन्यो के नित्य सुख में हाथ न बँटाकर दिखावटी भौतिकतावादी कार्यों में लगे रहते हैं। शुद्ध रहने तथा प्रचार-कार्यों में लगे रहने के कारण भक्त हर एक का सर्वश्रेष्ठ मित्र होता है।

(८) *कामैरहत-धी* : सामान्य लोग सारी वस्तुओं को अपनी तुष्टि के साधन के रूप में देखते हैं और इस तरह वे उन्हें प्राप्त करना अथवा अपने नियंत्रण में रखना चाहते हैं। अन्ततोगत्वा मनुष्य चाहता है कि उसके पास स्त्री हो, जिससे वह संभोग कर सके। मनुष्य के हृदय में पीड़ा-युक्त कामाग्नि को

जलते रहने के लिए भगवान् वांछित ईंधन प्रदान करते हैं, किन्तु वे ऐसे दिग्भ्रमित लोगों को आत्म-साक्षात्कार प्रदान नहीं करते। भगवान् कृष्ण दिव्य तथा निरपेक्ष हैं, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की सृष्टि का दुरुपयोग करना चाहता है, तो वे माया के माध्यम से उसे यह सुविधा प्रदान करते हैं और मनुष्य अपने को संसार का महान् और कामी भोक्ता मानकर उसमें फँस जाने से असली सुख से वंचित हो जाता है। दूसरी ओर, जिसने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है, वह पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द से युक्त हो जाता है और भौतिक जगत के मोहक बहकावे से ठगा नहीं जाता। शुद्ध भक्त उस मूर्ख हिरन के मार्ग का अनुसरण नहीं करता, जो शिकारी की वेणु से मोहित होकर मारा जाता है। भक्त कभी भी सुन्दर स्त्री की कामुक याचनाओं से आकृष्ट नहीं होता और वह मोहग्रस्त कर्मियों से भौतिक उपलब्धि की तथाकथित महिमा सुनने से कतराता है। इसी तरह शुद्ध भक्त सुगन्ध या स्वाद से मोहित नहीं होता। न तो वह विलासी भोजन के प्रति अनुरक्त होता है, न ही शारीरिक सुख के लिए दिन-भर प्रबन्ध करता है। ईश्वर की सृष्टि का असली भोक्ता स्वयं भगवान् है। जीव तो गौण भोक्ता हैं, जो भगवान् के आनन्द के माध्यम से असीम आनन्द का अनुभव करते हैं। आनन्द का अनुभव करने की यह पूर्ण विधि *भक्तियोग* कहलाती है और भक्त कभी भी स्थिर बुद्धि के इस शुभ पद को हाथ से नहीं जाने देता, भले ही उसके सामने तथाकथित भौतिक अवसर खड़े हों।

(९) *दान्त* : भक्त पापकर्मों से सहज ही विकर्षित होता है और अपने सारे कार्य कृष्ण को अर्पित करके अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है। इसके लिए स्थिर एकाग्रता तथा सतर्क मानसिकता चाहिए।

(१०) *मृदु* : भौतिकतावादी व्यक्ति लोगों को मित्र या शत्रु के रूप में देखता है और इस तरह अपने विपक्षियों का दमन करने के लिए अपने क्रूर अथवा क्षुद्र आचरण को कभी कभी सही सिद्ध करता है। चूँकि भक्त कृष्ण की शरण में रहता है, अतएव वह किसी को अपना शत्रु नहीं मानता और कभी भी अन्यो के कष्ट की कामना करने या उससे आनन्द पाने की प्रवृत्ति से क्षुब्ध नहीं होता। इस तरह वह *मृदु* या शालीन होता है।

(११) *शुचि* : जो अशुद्ध या अनुचित है, उसे भक्त कभी नहीं छूता। ऐसे शुद्ध भक्त के स्मरण मात्र से मनुष्य पाप की प्रवृत्ति से छूट जाता है। अपने सम्यक आचरण के कारण ही भक्त *शुचि* या शुद्ध कहलाता है।

(१२) *अकिञ्चन* : भक्त संग्रह-भावना से मुक्त होता है और किसी वस्तु को भोगने या त्यागने के लिए उत्सुक नहीं होता, क्योंकि वह हर वस्तु को कृष्ण की सम्पत्ति मानता है।

(१३) *अनीह* : भक्त कभी भी अपने लिए नहीं, अपितु कृष्ण की सेवा के लिए कार्य करता है। इसलिए वह सामान्य सांसारिक मामलों से दूर रहता है।

(१४) *मित-भुक्* : भक्त जहाँ तक सम्भव होता है आवश्यकता-भर ही भौतिक इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करता है, जिससे वह स्वस्थ रहे और ठीक से कृष्ण की सेवा कर सके। इसलिए वह अपने इन्द्रिय-कार्यों में फँसता नहीं और अपने आत्म-साक्षात्कार को हानि पहुँचाने नहीं देता। आवश्यकता पड़ने पर कृष्ण की सेवा के लिए भक्त कोई भी वस्तु त्याग सकता है, किन्तु अपनी प्रतिष्ठा के लिए वह किसी वस्तु को स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता।

(१५) *शान्त* : जो लोग भगवान् की सृष्टि का दुरुपयोग करना चाहते हैं, वे सदैव अशान्त रहते हैं। किन्तु भक्त ऐसे व्यर्थ-कार्यों से सदैव विरक्त रहता है और इन्द्रियतृप्ति को अपने स्वार्थ के लिए सर्वथा विपरीत मानता है। भगवान् की इच्छानुसार सदैव संलग्न रहने से वह शान्त रहता है।

(१६) *स्थिर* : भगवान् कृष्ण को ही हर वस्तु का आधार मान कर भक्त कभी भयभीत या अधीर नहीं होता।

(१७) *मत्-शरण* : भक्त को भगवान् कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त कोई कार्य अच्छा नहीं लगता और अपना कर्तव्य करने के लिए सदैव सावधान रहता है। भक्त जानता है कि एकमात्र कृष्ण ही उसकी रक्षा कर सकते हैं और उसे उपयोगी कार्य में लगा सकते हैं।

(१८) *मुनि* : भक्त विचारवान होता है और बुद्धिमत्तापूर्ण चिन्तन से अपनी आध्यात्मिक प्रगति से विपथ होने से बचता है। बुद्धि से ही वह कृष्ण के विषय में संशयों से मुक्त होता है और स्थिर कृष्णभावनामृत से जीवन की सारी समस्याओं का सामना करता है।

(१९) *अप्रमत्त* : जो व्यक्ति परमेश्वर को भूलता है, वह न्यूनाधिक सनकी होता है, किन्तु भक्त अपने समस्त कर्म भगवान् कृष्ण को अर्पित करके विवेकवान बना रहता है।

(२०) *गभीरात्मा* : ज्यों ज्यों भक्त कृष्णभावनामृत के सागर में डूबता जाता है, त्यों त्यों उसकी चेतना गहराती जाती है। सांसारिक स्तर पर मँडराने वाले सतही लोग भक्त की सतर्कता का अनुमान नहीं लगा सकते।

(२१) *धृतिमान्* : जीभ तथा जननेन्द्रियाँ के वेगों को वश में करते हुए भक्त स्थिर तथा धीर बना रहता है और भावावेश में आकर अपनी स्थिति नहीं बदलता।

(२२) *जित-षड्-गुण* : आध्यात्मिक ज्ञान के बल पर भक्त भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु—इन छह आवेगों को जीत लेता है।

(२३) *अमानी* : भक्त कभी गर्वित नहीं होता और यदि विख्यात भी होता है, तो उस ख्याति की बहुत परवाह नहीं करता।

(२४) *मान-द* : भक्त अन्यो का आदर करता है, क्योंकि हर व्यक्ति भगवान् कृष्ण का अंश है।

(२५) *कल्य* : कृष्णभावनामृत की सच्चाई को अन्य लोगों को समझाने में भक्त दक्ष होता है।

(२६) *मैत्र* : भक्त किसी को भी देहात्मबोध में प्रोत्साहित करके धोखा नहीं देता। प्रत्युत वह अपने प्रचार-कार्य से हर एक का मित्र होता है।

(२७) *कारुणिक* : भक्त लोगों को विवेकशील बनाने का प्रयत्न करता है, अतएव अत्यन्त दयालु होता है। वह *पर-दुःख-दुःखी* होता है, या ऐसा जो दूसरों के दुख को देख कर स्वयं दुखी हो।

(२८) *कवि* : भक्त भगवान् कृष्ण के दिव्य गुणों का अध्ययन करने में पटु होता है और भगवान् के ऊपर से विरोधी दिखने वाले गुणों में सामञ्जस्य एवं समन्वय दिखलाने में समर्थ होता है। भगवान् के परम स्वभाव का ज्ञान होने पर ही ऐसा सम्भव है। श्री चैतन्य महाप्रभु गुलाब के फूल से भी मृदु और वज्र से भी कठोर हैं, किन्तु इन विरोधी गुणों को भगवान् के दिव्य स्वभाव तथा कार्य के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। जो व्यक्ति बिना किसी विरोध या भ्रम के, कृष्णभावनामृत के सत्य को समझ सकता है, वह *कवि* या अत्यन्त विद्वान कहलाता है।

उपर्युक्त गुणों के विकास के अनुसार ही आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वालों की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अन्ततोगत्वा सबसे महत्त्वपूर्ण गुण भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना है, क्योंकि भगवान् अपने निष्ठावान भक्त को सारे गुण प्रदान कर सकते हैं। भक्ति की निम्नतम अवस्था में

मनुष्य इन्द्रियतृप्ति भोगने की अभिलाषा से कर्म करता है, किन्तु उसी के साथ वह कर्मफलों को भगवान् को अर्पित करने का प्रयास करता है। यह अवस्था *कर्म-मिश्र-भक्ति* कहलाती है। ज्यों ज्यों मनुष्य भक्ति में शुद्ध बनता जाता है, त्यों त्यों वह ज्ञान के माध्यम से विरक्त और चिन्तामुक्त हो जाता है। इस अवस्था में वह दिव्य ज्ञान के प्रति अनुरक्त हो जाता है अतएव यह अवस्था *ज्ञान-मिश्र-भक्ति* कहलाती है। किन्तु जीव के लिए शुद्ध कृष्ण-प्रेम सर्वोच्च सुख तथा स्वाभाविक स्थिति होती है, इसलिए निष्ठावान भक्त क्रमशः इन्द्रियतृप्ति तथा ज्ञान का भोग करने की अपनी इच्छा को जीत कर शुद्ध भक्ति-अवस्था को प्राप्त होता है, जो निजी इच्छा से रहित होती है। *न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्माभित्यज्यते हि सः*—योगी को कर्म नहीं छोड़ना चाहिए, प्रत्युत उसे विरक्ति का अनुशीलन करना चाहिए, जिससे उसके कर्म स्वतः ओझल हो जायेंगे। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अपने नियत कर्म करने चाहिए, भले ही वे अपूर्ण क्यों न रहे। यदि वह कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने में निष्ठा रखता है, तो भक्तियोग के बल पर उसके कर्म क्रमशः शुद्ध भक्ति में परिणत हो जायेंगे।

ऐसे अनेकानेक कर्मी, मनोधर्मी तथा भौतिकतावादी भक्त हैं, जो भक्ति के बल पर पूर्ण बने हैं। कृष्ण-भक्ति करने से मनुष्य को स्वतः जीवन का परमानन्द मिलता है और वह पूर्ण ज्ञान से युक्त हो जाता है। शुद्ध भक्ति की विधि में कोई अभाव नहीं है और इन्द्रिय-सुख या दार्शनिक तुष्टि प्राप्त करने के लिए किसी बाह्य प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। हाँ, मनुष्य को पूर्णतया आश्वस्त होना होगा कि कृष्ण की सेवा मात्र से उसे जीवन की सारी सिद्धि मिल जायेगी। यदि किसी में उपर्युक्त गुणों में से कोई गुण न भी रहे तो भी उसे सच्चे मन से कृष्ण की भक्ति में लग जाना चाहिए। इससे धीरे धीरे उसका चरित्र पूर्ण हो जायेगा। जो व्यक्ति कृष्ण का निष्ठावान भक्त होगा, उसमें भगवत्कृपा से ये सारे गुण स्वतः उत्पन्न हो जायेंगे और उपर्युक्त गुणों से युक्त, जो व्यक्ति पहले से कृष्ण-भक्ति कर रहा है, वह तो महानतम भक्त समझा जाना चाहिए। जैसाकि श्लोक ३२ में संकेत किया गया है, भगवान् का शुद्ध भक्त वर्णाश्रम पद्धति के अन्तर्गत कर्म करने के शुद्ध लाभों से पूरी तरह ज्ञात रहता है और इसी तरह वह इन कर्मों की उपेक्षा करने की हानिकारक गलती से भी परिचित होता है। तो भी भगवान् पर पूर्ण श्रद्धा रख कर भक्त अपने सारे सामाजिक तथा धार्मिक कर्म छोड़ देता है और पूरी तरह से भक्ति में लग जाता है, वह जानता है कि भगवान् कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के परम स्रोत हैं और सारी सिद्धि

कृष्ण से ही प्राप्त होती है। अपनी असामान्य श्रद्धा के कारण भक्त *सत्तम* अर्थात् समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ कहलाता है।

जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* में बतलाया है, जिस व्यक्ति में उपर्युक्त गुण अभी तक उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु जो कृष्णभावनामृत के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्नशील रहता है, उसे उत्कृष्ट वैष्णवों की कृपा प्राप्त होनी चाहिए। मनुष्य को शुद्ध भक्ति के ऐसे इच्छुक की घनिष्ठ संगति करनी आवश्यक नहीं है, अपितु उसे आश्वस्त होना चाहिए कि कृष्ण-नाम का कीर्तन करते रहने से सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इन श्लोकों में हुए वर्णन के अनुसार सन्त-पुरुषों के समाज के सौन्दर्य की कल्पना की जा सकती है। कृष्णभावनामृत के उपर्युक्त अद्भुत गुण शान्त तथा सम्पन्न समाज के आधार हैं और यदि सारे लोग कृष्णभक्ति करने लगे तो भय, हिंसा, काम, लोभ तथा अज्ञानता का वर्तमान वातावरण ऐसी दैवी स्थिति में परिणत हो सकता है, जिसमें सभी नेता तथा नागरिक सुखी होंगे। यहाँ पर मुख्य बातें हैं *मत्शरण तथा मां भजेत*। इस तरह सम्पूर्ण जगत *सत्तम*—अर्थात् अत्यन्त पूर्ण हो सकता है।

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।

भजन्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥ ३३ ॥

#### शब्दार्थ

ज्ञात्वा—जान कर; अज्ञात्वा—न जान कर; अथ—इस प्रकार; ये—जो; वै—निश्चय ही; माम्—मुझको; यावान्—जब तक; यः—जो; च—भी; अस्मि—हूँ; यादृशः—जैसा मैं हूँ; भजन्ति—पूजा करते हैं; अनन्य-भावेन—अनन्य भक्ति से; ते—वे; मे—मेरे द्वारा; भक्त-तमाः—सर्वश्रेष्ठ भक्तगण; मताः—माने जाते हैं।

भले ही मेरे भक्त यह जानें या न जानें कि मैं क्या हूँ, मैं कौन हूँ और मैं किस तरह विद्यमान हूँ, किन्तु यदि वे अनन्य प्रेम से मेरी पूजा करते हैं, तो मैं उन्हें भक्तों में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ।

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यद्यपि *यावान्* शब्द यह सूचित करता है कि कृष्ण को देश-काल में बाँधा नहीं जा सकता, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्तों के प्रेम में बँध जाते हैं। उदाहरणार्थ, वृन्दावनवासियों के प्रति अगाध प्रेम के कारण कृष्ण वृन्दावन के बाहर एक पग भी नहीं रखते। इस तरह भगवान् अपने भक्तों के प्रेम के वशीभूत रहते हैं। *यः* शब्द बताता है कि कृष्ण परम सत्य हैं, जो वसुदेव के पुत्र अर्थात् श्यामसुन्दर के रूप में प्रकट होते हैं। *यादृश* शब्द बताता है कि भगवान् *आत्माराम* हैं और *आप्तकाम* भी हैं। फिर भी अपने भक्तों के प्रेमवश वे कभी कभी *अनात्माराम* तथा *अनाप्तकाम* के रूप में प्रकट होते हैं। वस्तुतः भगवान् कृष्ण सदैव स्वतंत्र हैं, किन्तु वे

अपने भक्तों के गहन प्रेम से आदान-प्रदान करते हैं, जिससे वे आश्रितप्रतीत होते हैं, जिस तरह वृन्दावन में अपनी बाल-लीलाओं के समय वे नन्द महाराज तथा यशोदा पर आश्रित थे। अज्ञात्वा शब्द सूचित करता है कि कभी कभी भक्त को भगवान् का सही दार्शनिक बोध नहीं हो सकता अथवा प्रेमवश वह भगवान् की स्थिति को भूल सकता है। भगवद्गीता (११.४१) में अर्जुन कहता है—

*सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।*

*अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥*

“आपको अपना मित्र मानते हुए मैंने पहले आपको हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा जैसे सम्बोधनों से पुकारा है क्योंकि मैं आपकी महिमा को नहीं जानता था। मैंने मूर्खतावश या प्रेमवश जो कुछ भी किया है, कृपया उसके लिए मुझे क्षमा कर दें।” अजानता महिमानम्—अर्जुन के ये शब्द वही अर्थ रखते हैं, जो श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के शब्द अज्ञात्वा माम् के हैं। दोनों ही कृष्ण के यश के अपूर्ण ज्ञान के सूचक हैं। भगवद्गीता में अर्जुन कहता है—प्रणयेन—उनके प्रति प्रेम के कारण ही वह कृष्ण के परम पद को भूल गया था। इस श्लोक में कृष्ण अपने भक्तों की ऐसी त्रुटि को अज्ञात्वा माम् शब्दों द्वारा क्षमा कर देते हैं—अर्थात् यद्यपि भक्त उनके परम पद को ठीक से नहीं जानता, तो भी कृष्ण उनकी भक्ति को स्वीकार करते हैं। इस तरह इस श्लोक से भक्ति की सर्वोच्च स्थिति प्रकट हो जाती है। भगवद्गीता (११.५४) में कृष्ण यह भी कहते हैं—

*भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।*

*ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥*

“हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति द्वारा मुझे उस रूप में समझा जा सकता है, जिस रूप में मैं तुम्हारे समक्ष खड़ा हूँ और इसी प्रकार मेरा साक्षात् दर्शन भी किया जा सकता है। केवल इसी विधि से तुम मेरे ज्ञान के रहस्य को पा सकते हो।”

कोई भले ही असंख्य सन्त सदृश गुण उत्पन्न कर ले, किन्तु कृष्ण-प्रेम के बिना उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। उसे भगवान् को यथारूप में समझना चाहिए और उनसे प्रेम करना चाहिए। यदि वह ईश्वर की स्थिति को विश्लेषणात्मक रूप से समझने में अक्षम है, तो भी कृष्ण से प्रेम करने से वह पूर्ण हो जाता है। वृन्दावन के अनेक वासियों को इसकी कल्पना भी नहीं थी कि कृष्ण भगवान् हैं, न ही वे



कृष्ण की शक्तियों या अवतारों को जानते थे। वे अपने हृदय से कृष्ण से मात्र प्रेम करते थे, इसलिए उन्हें परम पूर्ण समझा जाता है।

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।  
 परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥ ३४ ॥  
 मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्भव ।  
 सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥ ३५ ॥  
 मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।  
 गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ ३६ ॥  
 यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।  
 वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥ ३७ ॥  
 ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।  
 उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥ ३८ ॥  
 सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।  
 गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥ ३९ ॥  
 अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।  
 अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ ४० ॥  
 यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।  
 तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ ४१ ॥

### शब्दार्थ

मत्-लिङ्ग—अर्चाविग्रह के रूप में इस जगत में मेरा प्राकट्य.; मत्-भक्त जन—मेरे भक्त; दर्शन—देखना; स्पर्शन—स्पर्श;  
 अर्चनम्—तथा पूजा; परिचर्या—सेवा-कार्य; स्तुतिः—महिमा की प्रार्थनाएँ; प्रह्व—नमस्कार; गुण—मेरे गुण; कर्म—तथा  
 कर्म; अनुकीर्तनम्—निरन्तर महिमा-गायन; मत्-कथा—मेरे विषय में कथाएँ; श्रवणे—सुनने में; श्रद्धा—प्रेम के कारण श्रद्धा;  
 मत्-अनुध्यानम्—सदैव मेरा ध्यान करते हुए; उद्भव—हे उद्भव; सर्व-लाभ—सभी उपाजित वस्तुएँ; उपहरणम्—भेंट;  
 दास्येन—अपने को मेरा दास मानते हुए; आत्म-निवेदनम्—आत्म-समर्पण; मत्-जन्म-कर्म-कथनम्—मेरे जन्म तथा कर्मों की  
 प्रशंसा करना; मम—मेरा; पर्व—जन्माष्टमी जैसे उत्सवों में; अनुमोदनम्—परम हर्ष मनाते हुए; गीत—गीतों; ताण्डव—नृत्य;  
 वादित्र—संगीत के वाद्यों; गोष्ठीभिः—तथा भक्तों के मध्य विचार-विमर्श; मत्-गृह—मेरे मन्दिर में; उत्सवः—उत्सव, पर्व;  
 यात्रा—उत्सव मनाना; बलि-विधानम्—आहुति डालना; च—भी; सर्व—समस्त; वार्षिक—साल में एक बार, प्रत्येक वर्ष;  
 पर्वसु—उत्सवों में; वैदिकी—वेदों में उल्लिखित; तान्त्रिकी—पञ्चरात्र जैसे ग्रंथों में वर्णित; दीक्षा—दीक्षा; मदीय—मेरा; व्रत—  
 उपवास; धारणम्—रखते हुए; मम—मेरे; अर्चा—अर्चाविग्रह का; स्थापने—स्थापना में; श्रद्धा—श्रद्धा रखते हुए; स्वतः—  
 अपने से; संहत्य—अन्यों के साथ; च—भी; उद्यमः—प्रयास; उद्यान—फूल के बगीचों के; उपवन—छोटा बगीचा; आक्रीड—  
 लीलाओं के स्थान; पुर—भक्ति के शहर; मन्दिर—तथा मन्दिर; कर्मणि—निर्माण में; सम्मार्जन—ठीक से झाड़ना-बुहारना;  
 उपलेपाभ्याम्—लीप-पोत कर; सेक—सुगन्धित जल छिड़क कर; मण्डल-वर्तनैः—मण्डल बनाकर; गृह—मन्दिर का, जो कि  
 मेरा घर है; शुश्रूषणम्—सेवा; मह्यम्—मेरे लिए; दास-वत्—दास की तरह; यत्—जो; अमायया—द्वैत-रहित; अमानित्वम्—  
 झूठी प्रतिष्ठा के बिना; अदम्भित्वम्—गर्व से रहित होकर; कृतस्य—भक्ति-कर्म; अपरिकीर्तनम्—विज्ञापन न करना; अपि—  
 भी; दीप—दीपकों के; अवलोकम्—प्रकाश; मे—मेरा; न—नहीं; उपयुञ्ज्यात्—लगाना चाहिए; निवेदितम्—अन्यों को पहले  
 ही भेंट की जा चुकी वस्तुएँ; यत् यत्—जो जो; इष्ट-तमम्—अभीष्ट; लोके—संसार में; यत् च—तथा जो भी; अति-प्रियम्—  
 अत्यन्त प्रिय; आत्मनः—अपना; तत् तत्—वह वह; निवेदयेत्—भेंट करे; मह्यम्—मुझको; तत्—वह भेंट; आनन्त्याय—  
 अमरता के लिए; कल्पते—योग्य बनाती है।

हे उद्धव, निम्नलिखित भक्ति-कार्यों में लगने पर मनुष्य मिथ्या अभिमान तथा प्रतिष्ठा का परित्याग कर सकता है। वह मेरे अर्चाविग्रह को के रूप में मुझे तथा मेरे शुद्ध भक्तों को देख कर, छू कर, पूजा करके, सेवा करके, स्तुति करके तथा नमस्कार करके अपने को शुद्ध बना सकता है। उसे मेरे दिव्य गुणों एवं कर्मों की भी प्रशंसा करनी चाहिए, मेरे यश की कथाओं को प्रेम तथा श्रद्धा के साथ सुनना चाहिए तथा निरन्तर मेरा ध्यान करना चाहिए। उसे चाहिए कि जो भी उसके पास हो, वह मुझे अर्पित कर दे और अपने को मेरा नित्य दास मान कर मुझ पर ही पूरी तरह समर्पित हो जाये। उसे मेरे जन्म तथा कार्यों की सदैव चर्चा चलानी चाहिए और जन्माष्टमी जैसे उत्सवों में, जो मेरी लीलाओं की महिमा को बतलाते हैं, सम्मिलित होकर जीवन का आनन्द लेना चाहिए। उसे मेरे मन्दिर में गा कर, नाच कर, बाजे बजाकर तथा अन्य वैष्णवों से मेरी बातें करके उत्सवों तथा त्योहारों में भी भाग लेना चाहिए। उसे वार्षिक त्योहारों में होने वाले उत्सवों में, यात्राओं में तथा भेंटें चढ़ाने में नियमित रूप से भाग लेना चाहिए। उसे एकादशी जैसे धार्मिक व्रत भी रखने चाहिए और वेदों, पंचरात्र तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों में उल्लिखित विधियों से दीक्षा लेनी चाहिए। उसे श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक मेरे अर्चाविग्रह की स्थापना का अनुमोदन करना चाहिए और अकेले अथवा अन्यो के सहयोग से कृष्णभावनाभावित मन्दिरों तथा नगरों के साथ ही साथ फूल तथा फल के बगीचों एवं मेरी लीला मनाये जाने वाले विशेष क्षेत्रों के निर्माण में हाथ बँटाना चाहिए। उसे बिना किसी द्वैत के अपने को मेरा विनीत दास मानना चाहिए और इस तरह मेरे आवास, अर्थात् मन्दिर को साफ करने में सहयोग देना चाहिए। सर्वप्रथम उसमें झाड़ू-बुहारा करना चाहिए और तब उसे जल तथा गोबर से स्वच्छ बनाना चाहिए। मन्दिर को सूखने देने के बाद सुगन्धित जल का छिड़काव करना चाहिए और मण्डलों से सजाना चाहिए। उसे मेरे दास की तरह कार्य करना चाहिए। उसे कभी भी अपने भक्ति-कार्यों का ढिंढ़ोरा नहीं पीटना चाहिए। इस तरह उसकी सेवा मिथ्या अभिमान का कारण नहीं होगी। उसे मुझे अर्पित किए गए दीपकों का प्रयोग अन्य कार्यों के लिए अर्थात् मात्र उजाला करने की आवश्यकता से नहीं करना चाहिए। इसी तरह मुझे ऐसी कोई वस्तु भेंट न की जाय, जो अन्यो पर चढ़ाई जा चुकी हो या अन्यो द्वारा काम में लाई जा चुकी हो। इस संसार में जिसे जो भी वस्तु

सब से अधिक चाहिए और जो भी वस्तु उसे सर्वाधिक प्रिय हो उसे, वही वस्तु मुझे अर्पित करनी चाहिए। ऐसी भेंट चढ़ाने से वह नित्य जीवन का पात्र बन जाता है।

**तात्पर्य :** इन आठ श्लोकों में भगवान् कृष्ण सन्त-गुणों की सामान्य व्याख्या समाप्त करते हैं और भगवद्भक्तों के विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हैं। भगवान् कृष्ण ने यहाँ पर तथा *भगवद्गीता* में भी स्पष्ट कहा है कि जीवन का चरम लक्ष्य पूरी तरह से भगवान् की शरण ग्रहण करना तथा उनका शुद्ध भक्त बनना है। यहाँ पर भगवान् भक्तियोग का विस्तार से वर्णन करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि उसे जो भी वस्तु प्राप्त हो उसे यह सोचते हुए वह भगवान् को अर्पित करे, “भगवान् कृष्ण ने इन वस्तुओं को भेजा है, जिससे मैं ठीक से उनकी सेवा कर सकूँ।” मनुष्य को अन्ततः समझना चाहिए कि सूक्ष्म आत्मा भगवान् कृष्ण का अंश है, अतएव उसे अपने आपको भगवान् को समर्पित कर देना चाहिए। जिस तरह सामान्य नौकर अपने स्वामी के प्रति विनीत तथा नम्र होता है, उसी तरह भक्त को अपने गुरु का आज्ञाकारी होना चाहिए जो भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधि होता है। उसे यह मान होना चाहिए कि किस तरह उसका शरीर तथा मन अपने गुरु के दर्शन मात्र से अथवा उसके चरणोदक को सिर पर चढ़ाने से शुद्ध बन जाते हैं। इन श्लोकों में इस बात पर बल दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह वैष्णव उत्सवों में भाग ले। जहाँ तक सम्भव हो सके, विशाल उत्सवों का आयोजन विश्व-भर में किया जाय, जिससे लोग धीरे-धीरे सीख सकें कि मनुष्य-जीवन को कैसे पूर्ण बनाया जाय। *ममार्चास्थापने श्रद्धा* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को उनके अर्चाविग्रह की पूजा में श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि भगवान् अर्चाविग्रह में साकार रूप में उपस्थित रहते हैं। *उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि* शब्दों से सूचित होता है कि सुन्दर मन्दिर तथा पर्याप्त पार्कों, बगीचों तथा फूल के उद्यानों से युक्त वैष्णव नगर बनाने के गम्भीर प्रयास होने चाहिए। ऐसे प्रयासों का अद्वितीय उदाहरण सम्प्रति भारत में स्थित मायापुर चन्द्रोदय मन्दिर में देखा जा सकता है।

*दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान् निवेदितम्* से सूचित होता है कि अर्चाविग्रह की साज-सामग्री को अपनी इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में नहीं लगाना चाहिए। यदि घर में बिजली या दीपकों की कमी हो, तो अर्चाविग्रह के दीपकों को काम में नहीं लिया जाना चाहिए। न ही अन्यो द्वारा प्रयुक्त या पहले चढ़ाई गई साज-सामग्री को भगवान् कृष्ण पर चढ़ाना चाहिए। इन श्लोकों में अर्चाविग्रह की पूजा तथा

वैष्णव-उत्सवों की महत्ता पर अनेक प्रकार से बल दिया गया है। भगवान् कृष्ण वचन देते हैं कि जो भी निष्ठापूर्वक इन कार्यों को करता है, वह अवश्य ही भगवद्धाम जाता है ( *तदानन्त्याय कल्पते* )। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सर्वप्रिय वस्तु कृष्ण को अर्पित करे, फिजूल या अनचाही वस्तु को नहीं। यदि कोई अपने परिवार से अच्छी प्रकार से जुड़ा हुआ है, तो उसे यह देखना चाहिए कि उसका परिवार कृष्ण की सेवा में लगे। यदि कोई धन में सर्वाधिक लिप्त रहता है, तो वह कृष्णभावनामृत का प्रसार करने में उसका दान दे। और यदि कोई अपनी बुद्धि को सबसे मूल्यवान समझता है, तो उसे तर्कपूर्वक कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहिए। यदि हम अपनी सबसे मूल्यवान वस्तु भगवान् कृष्ण को अर्पित करते हैं, तो हम स्वतः उनके प्रिय बनकर भगवद्धाम जा सकेंगे।

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणा गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।  
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥ ४२ ॥

#### शब्दार्थ

सूर्यः—सूर्य; अग्निः—अग्नि; ब्राह्मणाः—तथा ब्राह्मणगण; गावः—गौवं; वैष्णवः—भगवद्भक्त; खम्—आकाश; मरुत्—वायु; जलम्—जल; भूः—पृथ्वी; आत्मा—व्यष्टि आत्मा; सर्व-भूतानि—सारे जीव; भद्र—हे साधु उद्धव; पूजा—पूजा के; पदानि—स्थान; मे—मेरी।

हे साधु-पुरुष उद्धव, यह जान लो कि तुम मेरी पूजा सूर्य, अग्नि, ब्राह्मणों, गौवों, वैष्णवों, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा में तथा सारे जीवों में कर सकते हो।

तात्पर्य : जब तक कोई यह नहीं समझ लेता कि भगवान् कृष्ण सर्वव्यापी हैं और हर वस्तु उनमें समाई हुई है, तब तक उसकी कृष्ण-चेतना अधम कोटि की और भौतिकतावादी है। सारे वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि परम सत्य ही हर वस्तु के स्रोत हैं। हर वस्तु उनके भीतर है और वे हर वस्तु के भीतर समाए हुए हैं। भगवान् कृष्ण के विषय में भौतिकतावादी धारणा से बचने के लिए यह समझना होगा कि भगवान् किसी विशेष देश तथा काल में ही स्थित नहीं होते प्रत्युत वे सभी कालों तथा देशों में विद्यमान रहते हैं और सारी वस्तुओं के भीतर उन्हें खोजा जा सकता है। पूजा-पदानि शब्द सूचित करता है कि कृष्ण सर्वव्यापी हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तुएँ कृष्ण हैं। इस श्लोक में कृष्ण अपनी सर्वव्यापकता की सर्वश्रेष्ठता का स्पष्टीकरण करते हैं और पूर्ण आत्म-साक्षात्कार का मार्ग दिखाते हैं।

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।  
 आतिथ्येन तु विप्राछये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥ ४३ ॥  
 वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।  
 वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरःसरैः ॥ ४४ ॥  
 स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।  
 क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥ ४५ ॥

### शब्दार्थ

सूर्ये—सूर्य में; तु—निस्सन्देह; विद्यया त्रय्या—प्रशंसा, पूजा तथा नमस्कार की चुनी हुई वैदिक स्तुतियों द्वारा; हविषा—घी की आहुतियों से; अग्नौ—अग्नि में; यजेत—पूजा करे; माम्—मुझको; आतिथ्येन—अतिथि के रूप में स्वागत करके; तु—निस्सन्देह; विप्र—ब्राह्मणों के; अछये—सर्वश्रेष्ठ, अग्रणी; गोषु—गौवों में; अङ्ग—हे उद्धव; यवस—आदिना—उनके पालन के लिए घास आदि देना; वैष्णवे—वैष्णव में; बन्धु—प्रेमपूर्ण मैत्री के साथ; सत्-कृत्या—सत्कार करने से; हृदि—हृदय में; खे—आन्तरिक आकाश में; ध्यान—ध्यान में; निष्ठया—स्थिर होने से; वायौ—वायु में; मुख्य—प्रमुख; धिया—बुद्धि से मानते हुए; तोये—जल में; द्रव्यैः—भौतिक तत्त्वों द्वारा; तोय-पुरः-सरैः—जल इत्यादि से.; स्थण्डिले—पृथ्वी पर; मन्त्र-हृदयैः—मंत्रों के प्रयोग से; भोगैः—भोग्य वस्तुएँ प्रदान करने से; आत्मानम्—जीवात्मा; आत्मनि—शरीर के भीतर; क्षेत्र-ज्ञम्—परमात्मा; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों के भीतर; समत्वेन—सर्वत्र समभाव से देखते हुए; यजेत—पूजा करना चाहिए; माम्—मुझको ।

हे उद्धव, मनुष्य को चाहिए कि चुने हुए वैदिक मंत्रोच्चार तथा पूजा और नमस्कार द्वारा सूर्य में मेरी पूजा करे। वह अग्नि में घी की आहुति डाल कर मेरी पूजा कर सकता है। वह अनामंत्रित अतिथियों के रूप में ब्राह्मणों का आदरपूर्वक स्वागत करके उनमें मेरी पूजा कर सकता है। मेरी पूजा गायों में उन्हें घास तथा उपयुक्त अन्न एवं उनके स्वास्थ्य एवं आनन्द के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान करके की जा सकती है। वैष्णवों में मेरी पूजा उन्हें प्रेमपूर्ण मैत्री प्रदान करके तथा सब प्रकार से उनका आदर करके की जा सकती है। स्थिरभाव से ध्यान के माध्यम से हृदय में मेरी पूजा होती है और वायु में मेरी पूजा इस ज्ञान के द्वारा की जा सकती है कि तत्त्वों में प्राण ही प्रमुख है। जल में मेरी पूजा जल के साथ फूल तथा तुलसी-दल जैसे अन्य तत्त्वों को चढ़ाकर की जा सकती है। पृथ्वी में गुह्य बीज मंत्रों के समुचित प्रयोग से मेरी पूजा हो सकती है। भोजन तथा अन्य भोज्य वस्तुएँ प्रदान करके व्यष्टि जीव में मेरी पूजा की जा सकती है। सारे जीवों में परमात्मा का दर्शन करके तथा इस तरह समदृष्टि रखते हुए मेरी पूजा की जा सकती है।

तात्पर्य : महत्त्व की बात यह है कि इन तीन श्लोकों में भगवान् इस बात पर बल देते हैं कि समस्त जीवों के भीतर व्याप्त भगवान् की पूजा की जानी चाहिए। इनमें इसकी संस्तुति नहीं की गई है कि भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य भौतिक या आध्यात्मिक वस्तु को सर्वोच्च माना जाय। भगवान् को उनके सर्वव्यापक रूप में अपनी चेतना में रखते हुए मनुष्य चौबीसों घण्टे पूजा के भाव में रह

सकता है। इस तरह वह समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में लगाने का प्रयास करता रहेगा। यदि अज्ञानवश कोई व्यक्ति भगवान् को भूल जाता है, तो वह भगवान् से भिन्न किसी शक्तिशाली भौतिक तत्त्व की पूजा करने लग सकता है या फिर मूर्खतावश अपने को सर्वोच्च मानने लग सकता है। मनुष्य को चाहिए कि विवेकवान् बने रहकर हर वस्तु के भीतर भगवान् की पूज्य उपस्थिति को स्वीकार करे।

धिष्णयेष्वित्येषु मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।

युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत्समाहितः ॥ ४६ ॥

#### शब्दार्थ

धिष्णयेषु—पूर्व वर्णित पूजा-स्थलों में; इति—इस प्रकार ( पूर्व वर्णित विधियों से ); एषु—उनमें; मत्-रूपम्—मेरा दिव्य रूप; शङ्ख—शंख; चक्र—सुदर्शन चक्र; गदा—गदा; अम्बुजैः—तथा कमल-फूल से; युक्तम्—सज्जित; चतुः-भुजम्—चार भुजाओं सहित; शान्तम्—शान्त; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; अर्चेत्—पूजा करे; समाहितः—मनोयोग से।

इस तरह पूर्व वर्णित पूजा-स्थलों में तथा मेरे द्वारा वर्णित विधियों से मनुष्य को मेरे शान्त, दिव्य तथा चतुर्भुज रूप का, जो शंख, सुदर्शन चक्र, गदा तथा कमल से युक्त है, ध्यान करना चाहिए। इस तरह उसे मनोयोगपूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् पहले ही बता चुके हैं कि वे अपने भक्तों के लिए विभिन्न दिव्य रूपों में प्रकट होते हैं, जिससे वे भगवान् के प्रति असीम प्रेम बढ़ा सकें। यहाँ पर नारायण के चतुर्भुजी रूप का सामान्य वर्णन हुआ है, जो संसार में परमात्मा रूप में व्याप्त हैं। किन्तु शुद्ध भक्तगण भगवान् का ध्यान हृदय में नहीं करते, अपितु भगवान् के विशिष्ट रूप की यथा राम या कृष्ण की सेवा करते हैं और इस तरह भगवान् के साक्षात्कार को पूर्ण बनाते हैं, जो अपने भक्तों के साथ वैकुण्ठ-लोक में दिव्य लीलाओं में व्यस्त रहते हैं। फिर भी भौतिक जगत के अन्तर्गत कोई भी मनुष्य हर एक के भीतर परमेश्वर का दर्शन करके तथा उनके निरन्तर ध्यान द्वारा उनकी पूजा करके, अपने जीवन को आध्यात्मिक बना सकता है। जैसाकि पिछले श्लोकों में कहा गया है, मनुष्य को मन्दिर में जाकर भी अर्चाविग्रह की पूजा करनी चाहिए और आध्यात्मिक उत्सवों में भाग लेना चाहिए। उसे गर्वित नहीं होना चाहिए और यह दावा नहीं करना चाहिए कि मन्दिर जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह प्रकृति में भगवान् का ध्यान करता है। मन्दिर-पूजा पर स्वयं भगवान् ने बारम्बार बल दिया है। इस श्लोक में समाहित शब्द समाधि का सूचक है। यदि मनुष्य ध्यानपूर्वक अर्चाविग्रह की पूजा करता है

या भगवान् कृष्ण की लीलाओं का श्रवण और कीर्तन करता है, तो वह निश्चय ही समाधि में होता है। चौबीसों घंटे भगवान् की पूजा करने से और उनकी महिमा का गान करने से मनुष्य मुक्तात्मा बन जाता है और इस जगत के प्रभाव से धीरे धीरे पूरी तरह ऊपर उठ जाता है। जीव को *आत्मा* कहते हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध परमात्मा अर्थात् भगवान् से है। भगवान् की पूजा करने से हमारा शाश्वत स्वभाव पुनरुज्जीवित होता है और ज्यों ज्यों भक्ति में हमारा उत्साह तथा स्थैर्य बढ़ता जाता है, यह भौतिक जगत समाप्त होता जाता है।

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ।

लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥ ४७ ॥

#### शब्दार्थ

इष्टा—अपने लाभ के लिए यज्ञ करके; पूर्तेन—तथा अन्यो के लाभ के लिए शुभ कार्य करना तथा कुँ खुदवाना; माम्—मुझको; एवम्—इस प्रकार; यः—जो; यजेत—पूजा करता है; समाहितः—मुझमें मन स्थिर करके; लभते—प्राप्तकरता है; मयि—मुझमें; सत्-भक्तिम्—दृढ़ भक्ति; मत्-स्मृतिः—मेरा स्वरूपसिद्ध ज्ञान; साधु—उत्तम गुणों से युक्त; सेवया—सेवा द्वारा।

मेरी तुष्टि के लिए जिसने यज्ञ तथा शुभ कार्य किये हैं और इस तरह से एकाग्र ध्यान से मेरी पूजा करता है, वह मेरी अटल भक्ति प्राप्त करता है। ऐसा पूजक उत्तम कोटि की अपनी सेवा के कारण मेरा स्वरूपसिद्ध ज्ञान प्राप्त करता है।

तात्पर्य : इष्टापूर्तेन शब्द का अर्थ है “यज्ञ तथा शुभ कार्य”। इससे शुद्ध भक्ति के मार्ग से किसी प्रकार का विचलन सूचित नहीं होता। भगवान् कृष्ण या विष्णु यज्ञ या यज्ञ के स्वामी कहलाते हैं। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसाम्*—“मैं समस्त यज्ञ का वास्तविक भोक्ता हूँ।” सर्वोच्च यज्ञ भगवन्नाम का कीर्तन है। भगवन्नाम की शरण ग्रहण करने से मनुष्य को अचल भक्ति तथा परम सत्य का स्वरूपसिद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। स्वरूपसिद्ध भक्त अपनी भक्ति के मामले में बहुत सावधान रहता है और उसे वह अपना प्राण समझता है। वह अपने गुरु तथा भगवान् के चरणकमलों की निरन्तर पूजा करके तथा महिमा-गान करके अपने को भक्ति के योग्य बनाये रखता है। *हरिनाम कीर्तन* तथा *गुरु पूजा* ऐसे व्यावहारिक साधन हैं, जिनसे शुद्ध भक्ति प्राप्त की जा सकती है। जब *हरिनाम कीर्तन* का विस्तार किया जाता है, तो वह *कृष्णसङ्कीर्तन* कहलाता है। मनुष्य को अप्रामाणिक तपस्या या यज्ञ करके शुष्क नहीं बन जाना चाहिए, प्रत्युत उसे श्रीकृष्ण संकीर्तन रूपी

महान् यज्ञ में उत्साह के साथ जुट जाना चाहिए, जिससे मनुष्य-जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।

नोपायो विद्यते सम्यक्प्रायणं हि सतामहम् ॥ ४८ ॥

#### शब्दार्थ

प्रायेण—प्रायः; भक्ति-योगेन—मेरी भक्ति से; सत्-सङ्गेन—मेरे भक्तों की संगति से सम्भव होने वाली; विना—रहित; उद्धव—हे उद्धव; न—नहीं; उपायः—कोई उपाय; विद्यते—है; सम्यक्—जो वास्तव में कारगर हो; प्रायणम्—जीवन का असली मार्ग या वास्तविक आश्रय; हि—क्योंकि; सताम्—मुक्तात्माओं का; अहम्—मैं।

हे उद्धव, सन्त स्वभाव के मुक्त पुरुषों के लिए मैं ही अनन्तिम आश्रय तथा जीवन-शैली हूँ, अतएव यदि कोई व्यक्ति मेरे भक्तों की संगति से सम्भव मेरी प्रेमाभक्ति में प्रवृत्त नहीं होता, तो सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के दृष्टिकोण से प्रायः भौतिक जगत से बचने का कोई उपाय उसके पास नहीं रह जाता।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने उद्धव से ज्ञानयोग तथा भक्तियोग के लक्षण बतलाये क्योंकि ये दोनों आध्यात्मिक विधियाँ मानी जाती हैं। किन्तु अब भगवान् स्पष्ट सूचित करते हैं कि संसार से अपने को मुक्त करने के लिए भक्तियोग ही असली उपाय है और यह भक्तियोग वैष्णवों की संगति—*सत्संग* के बिना सम्भव नहीं है। *भक्तिमिश्र ज्ञान* के मार्ग में तब भी तीन गुण प्रभाव डालते हैं। शुद्ध आत्मा को दार्शनिक मनोधर्म, कठोर तपस्या या निर्विशेष ध्यान में प्रवृत्त होने की कोई इच्छा नहीं होती, क्योंकि वह सभी भौतिक गुणों से मुक्त होता है। वह तो मात्र कृष्ण से प्रेम करता है और उन्हीं की निरन्तर सेवा करना चाहता है। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णे 'नित्य दास'*। भगवान् की शुद्ध भक्ति *केवल-भक्ति* कहलाती है, जबकि ज्ञानमिश्रित भक्ति *गुणभूतभक्ति* कहलाती है। जो वास्तव में बुद्धिमान है, वह दार्शनिक जादूगरी का प्रदर्शन नहीं करता, अपितु भगवान् के शुद्ध प्रेम की श्रेष्ठता को ढूँढ़ लेता है और *केवल-भक्ति* के मार्ग को अपनाता है। जो तथाकथित बौद्धिक उपलब्धियों पर बल देता है, वह वास्तव में अल्पज्ञ है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति शुद्ध आत्मा की अपेक्षा बुद्धि की ओर आकृष्ट होता है, जबकि शुद्ध आत्मा श्रेष्ठ है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि शुद्ध भक्ति ज्ञानरहित या बौद्धिकता-विरोधी नहीं है। परम सत्य तो आंशिक सत्य से कहीं अधिक व्यापक है। अतएव जिसे भगवान् कृष्ण का पूर्ण ज्ञान होता है, वह दार्शनिक विश्लेषण में आसानी से लग सकता है, क्योंकि शुद्ध भक्त अवधारणाओं की पूरी



श्रेणियों के साथ कार्य कर रहा होता है। जो लोग भगवान् कृष्ण को नहीं जानते, वे निर्विशेष ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति आकृष्ट होते हैं, किन्तु वे ज्ञान की चरम कोटि भगवान् से ज्ञात नहीं होते। भगवान् के ज्ञान के अभाव में ऐसे अपूर्ण दार्शनिक भगवान् की असंख्य शक्तियों के घात-प्रतिघात को नहीं समझ सकते, अतएव उनका पूरा पूरा विश्लेषण नहीं कर सकते। भगवान् कृष्ण के हर वचन को परम सत्य मानकर कोई भी व्यक्ति दर्शन की प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होता है और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है।

शुद्ध भक्ति दार्शनिक अथवा बौद्धिक ज्ञान के अतिरिक्त जीवन के अन्य सारे भौतिक अथवा आध्यात्मिक लाभ भी देने वाली होती है, अतएव जो व्यक्ति किसी भी कारण से भक्ति को छोड़ कर अन्य कोई विधि अपनाता है, वह दुर्भाग्यवश कृष्ण-भक्ति को नहीं समझता है। यहाँ इस पर बल दिया गया है कि अन्य भक्तों की संगति से भक्ति का अनुशीलन किया जाय। दूसरी ओर, ज्ञान योग का अकेले ही अनुशीलन किया जाता है, क्योंकि किन्हीं भी दो मनोधर्मी चिन्तकों का किसी वाद-विवाद में फँसे बिना एकमत होना सम्भव नहीं है। आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियों की तुलना बकरी के गलस्तन से की जाती है। वे स्तन जैसे तो लगते हैं, किन्तु उनसे दूध नहीं निकलता। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं, जो क्रमशः श्री उद्धव, शुकदेव गोस्वामी तथा नारद मुनि द्वारा कहे गये हैं।

*तापत्रयेणाभिहितस्य घोरे सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीह ।*

*पश्यामि नान्यच्छरणं तवांग्नि द्वन्द्वातपत्रादमृतभिवर्षात् ॥*

“हे प्रभु! जो व्यक्ति संसाररूपी जंजाल में गिरकर भौतिक कष्टों की अग्नि में जलाया जा रहा हो, उसके लिए मुझे आपके दो चरणकमलों के अतिरिक्त कोई अन्य आश्रय नहीं दिखता, क्योंकि वे कष्ट की अग्नि को बुझाने के लिए अमृत की वर्षा के तुल्य हैं। (भागवत ११.१९.९)

*संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-*

*नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।*

*लीलाकथारसनिषेवनमन्तरेण*

*पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्धितस्य ॥*

“यह संसार सागर के समान है, जिसको पार करना अत्यन्त कठिन है। बद्धजीव इस सागर में गिरे हुए हैं, जो कि शीतल नहीं है, अपितु कष्ट की आग उन्हें जला रही है। जो इस समुद्र में गिर चुका है और उसमें से निकलना चाहता है, उसके पास पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का आस्वादन करने के सिवाय कोई अन्य रक्षा-नाव नहीं है।” (भागवत १२.४.४०)

किं वा योगेन सांख्येन न्यास स्वाध्याययोरपि ।

किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥

“योग पद्धति, दार्शनिक चिन्तन, संसार का मात्र परित्याग या वैदिक अध्ययन से क्या लाभ वस्तुतः हमारे अस्तित्व के स्रोत भगवान् कृष्ण के बिना किसी तथाकथित शुभ विधि से क्या लाभ है ?” (भागवत ४.३१.१२)

जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, यदि सामान्यतया ( प्रायेण ) भक्तों की संगति द्वारा भक्ति के बिना भौतिक बन्धन से छूट पाना असम्भव है, तो कलियुग में कृष्णभावनामृत आन्दोलन के बिना मोक्ष की सम्भावना नहीं के बराबर है। कोई मानसिक स्तर पर मोक्ष की किसी विधि की कल्पना कर सकता है या वह पारस्परिक चापलूसी के तथाकथित आध्यात्मिक समाज में रह सकता है, किन्तु यदि वह वास्तव में भगवद्धाम वापस जाना चाहता है और अपनी दिव्य आँखों से कृष्ण-लोक नामक ईश्वर के मनोहर धाम को देखना चाहता है, तो उसे श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन को अपनाना चाहिए और भक्तगणों के साथ भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए।

अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन ।

सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; एतत्—यह; परमम्—परम; गुह्यम्—गुप्त; शृण्वतः—सुनने वाले तुमको; यदु-नन्दन—हे यदुकुल के प्रिय; सु-गोप्यम्—अत्यन्त गुह्य; अपि—भी; वक्ष्यामि—मैं कहूँगा; त्वम्—तुम; मे—मेरा; भृत्यः—सेवक हो; सु-हृत्—शुभचिन्तक; सखा—तथा मित्र।

हे उद्धव, हे यदुकुल के प्रिय, चूँकि तुम मेरे सेवक, शुभचिन्तक तथा सखा हो, अतएव अब मैं तुमसे अत्यन्त गुह्य ज्ञान कहूँगा। अब इसे सुनो, क्योंकि मैं इन महान् रहस्यों को तुम्हें बतलाने जा रहा हूँ।

**तात्पर्य :** श्रीमद्भागवत के प्रथम अध्याय (१.१.८) में कहा गया है—*ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत*—प्रामाणिक गुरु अपने निष्ठावान् शिष्य को सारे दिव्य रहस्य बतला देता है। श्री उद्धव ने पूरी तरह से भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली थी। केवल ऐसी अवस्था में ही भगवान् उन्हें ऐसे रहस्य बतला सकते थे, क्योंकि बिना पूर्ण श्रद्धा के आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान कर पाना असम्भव है। आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियाँ, यथा दार्शनिक चिन्तन अपूर्ण तथा अस्थिर हैं, क्योंकि कर्ता की निजी इच्छाएँ होती हैं और ऐसी कोई निश्चित विधि नहीं है, जिससे भगवान् की पूरी पूरी कृपा प्राप्त की जा सके। दूसरी ओर, भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति अपने में पर्याप्त विधि है, जिससे वांछित फल की गारण्टी रहती है। मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति करना सीखना चाहिए। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा। यही इस अध्याय का सार-समाहार है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत “बद्ध तथा मुक्त जीवों के लक्षण” नामक ग्यारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।